भाषा भारती

राजभाषा उन्नयन की वार्षिक पत्रिका

ISSN 2321–5704

(वर्ष-7, अंक-7, जनवरी, 2020)

संरक्षक

कुलपति, प्रो. आर.पी. तिवारी

परामर्शदाता

कुलसचिव, कर्नल राकेश मोहन जोशी

सम्पादक मण्डल

प्रो. ए.एन. शर्मा

डॉ. पंकज तिवारी

डॉ. ऋतु यादव

डॉ. अरविन्द कुमार

डॉ. अनुराग श्रीवास्तव

श्री आर.के. पाल

सम्पादक

डॉ. छबिल कुमार मेहेर

सहायक सम्पादक

अभिषेक सक्सेना

राजभाषा प्रकोष्ठ

डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय

सागर (मध्यप्रदेश)–470003

दूरभाष : (07582) 297118

ई-मेल : hindicell2015@gmail.com

भाषा भारती

राजभाषा उन्नयन की वार्षिक पत्रिका

ISSN 2321 – 5704

वर्ष 7, अंक 7

जनवरी, 2020

यू.जी.सी. द्वारा मान्य पत्रिकाओं की सूची (Journal No.–40712) में सम्मिलित

© *सर्वाधिकार सुरक्षित*

सम्पादकीय पत्र व्यवहार :

हिन्दी अधिकारी, राजभाषा प्रकोष्ठ

डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय

सागर (म.प्र.)–470003

दूरभाष : (07582) 297118

ई-मेल : hindicell2015@gmail.com

मूल्य : निःशुल्क आन्तरिक वितरण हेतु

'भाषा भारती' में प्रकाशित रचनाकारों के विचार से सम्पादक मण्डल का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

शब्द संयोजन

विनोद रजक

मुद्रण

तेजस मोमेंटो एवं गिफ्ट हाऊस

सरस्वती वाचनालय, गौर मूर्ति, तीनबत्ती, सागर

महात्मा गाँधी की 150वीं जयन्ती पर
ट्यूनिसिया डाक विभाग द्वारा जारी
स्मारक डाक टिकिट

Commemorative Postage Stamp
issued by Tunisia Post
to mark the 150th birth anniversary of
Mahatma Gandhi

प्रो. आर.पी. तिवारी
कुलपति
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)–470003

संदेश

'भाषा भारती' के सातवें अंक के प्रकाशन के अवसर पर आप सभी को हार्दिक बधाई एवं शुभकामनाएँ! हिन्दी भाषा का जन्म देववाणी संस्कृत से हुआ है तथा हिन्दी शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के सिन्ध शब्द से हुई मानी जाती है। संस्कृत की 'स' ध्वनि फारसी में 'ह' बोली जाती है। सिन्धु क्षेत्र में आने के कारण ईरानी लोग 'सिन्धु' न कहकर 'हिन्दु' कहने लगे। इसी तरह सिन्धी से हिन्दी और सिन्ध से हिन्द शब्द अस्तित्व में आते गए। 'हिन्दी' शब्द का अर्थ है– 'हिन्द का' और आगे चलकर यह शब्द 'हिन्दी भाषा' के रूप में प्रयुक्त होने लगा। हिन्दी का व्याकरण संस्कृत का अनुकरण करता है, इस कारण यह बहुत समृद्ध है।

हिन्दी की लिपि देवनागरी है तथा हिन्दी भाषा उच्चारण पर आधारित है अर्थात् हिन्दी जैसी बोली जाती है, वैसी ही लिखी जाती है। भाषा शास्त्री हिन्दी भाषा के इतिहास को एक हजार वर्ष पुराना मानते हैं, जो प्राप्त लेखों एवं ग्रंथों के आधार पर निर्धारित किया गया है। संस्कृत जब राजभाषा या सांस्कृतिक भाषा के रूप में रही होगी, उस समय में हिन्दी अपने प्राचीन रूप में लोकभाषा या जनभाषा के रूप में सम्पर्क की भाषा थी– तभी तो वह विभिन्न कालखंड में परिष्कृत होती हुई आज की आधुनिक हिन्दी के रूप में साहित्य की भाषा, सम्पर्क की भाषा बनी है। आशा है कि हम हिन्दी को देश की ही नहीं वरन् विश्व की सम्पर्क भाषा, संयुक्त राष्ट्र की अधिकृत भाषा के रूप में प्रतिष्ठापित करने हेतु निरन्तर प्रयत्नशील रहेंगे। इसी उद्देश्य की सम्पूर्ति तथा राजभाषा के प्रगामी प्रयोग को बढ़ावा देने की दिशा में 'भाषा भारती' सहायक होगी।

आप सभी को बधाई एवं शुभकामनाएँ!

जनवरी, 2020

रा०प्र० तिवारी

(आचार्य राघवेन्द्र प्रसाद तिवारी)

कर्नल राकेश मोहन जोशी
कुलसचिव
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर (म.प्र.)–470003

संदेश

''भाषा भारती' का सातवाँ अंक आप सब के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे खुशी हो रही है। इस पत्रिका के माध्यम से विश्वविद्यालय परिवार के सदस्यों को अपनी सृजनात्मकता एवं साहित्यिक प्रतिभा की अभिव्यक्ति का अवसर मिलता है।

संविधान के अनुच्छेद 343 के तहत हिन्दी को संघ की राजभाषा घोषित किया गया है। संघ की राजभाषा होने के कारण हम सभी का यह संवैधानिक दायित्व है कि हम राजभाषा सम्बन्धित अनुदेशों का अनुपालन उसी दृढ़ता और तत्परता के साथ करें, जिस प्रकार अन्य सरकारी अनुदेशों का करते हैं। संघ की राजभाषा नीति का आधार सद्भावना, प्रेरणा और प्रोत्साहन है। हम स्वयं अधिक से अधिक कार्य हिन्दी में करते हुए अन्य अधिकारियों/कर्मचारियों से भी राजभाषा अधिनियमों का अनुपालन सुनिश्चित कराएँ ताकि आम आदमी सभी सरकारी योजनाओं व कार्यक्रमों का लाभ उठा सके।

आशा है कि हम सब मिलकर राजभाषा हिन्दी के माध्यम से स्वदेशी विज्ञान की समृद्ध परम्परा को जन-जन तक पहुँचाकर शिक्षित, शक्तिशाली एवं नए भारत का निर्माण करेंगे। मुझे पूर्ण विश्वास है कि हमारे सामूहिक एवं सार्थक प्रयासों से हिन्दी न केवल राष्ट्रीय स्तर पर अपितु विश्व पटल पर ज्ञान-विज्ञान से परिपूर्ण एवं समृद्ध भाषा के रूप में विश्व भाषा बनेगी।

'भाषा भारती' के प्रकाशन के अवसर पर आप सभी को हार्दिक शुभकामनाएँ!

जनवरी, 2020

(कर्नल राकेश मोहन जोशी)

सम्पादकीय–

हिन्दी : भारत की सांस्कृतिक धरोहर

1

हिन्दी प्रारंभिक काल से लेकर आज तक निरन्तर अपने आपको अपने बल पर विकसित एवं विस्तारित करती हुई चल रही है। हिन्दी अपनी जननी-भाषा संस्कृत से ऊर्जा प्राप्त करती है जिसके लाखों शब्द तो हैं ही, लाखों नये शब्द बनाए जाने की क्षमता भी इसमें है। हिन्दी अपनी क्षेत्रीय बोलियों से अनुप्राणित होती है तथा बोलियों के शब्दों से यह निखरती है। हिन्दी में अरबी, फारसी, यूरोपीय आदि भाषाओं के शब्द अपने तरीके से समाए हुए हैं। हिन्दी भारत के विभिन्न प्रदेशों की भाषाओं के साथ गलबहियाँ करके उनके शब्दों को अपने में समाहित करती हुई उनके बोलने के अंदाज में आसानी से ढल जाती है। विश्व की किसी भी भाषा के शब्दों को अपने में समाहित करने में हिन्दी कभी परहेज नहीं करती, यही कारण है कि हिन्दी संस्कृत से सरसती हुई प्राकृत, पालि, अपभ्रंश से लेकर अरबी पारसी और इंग्लिश के साथ चलती रहने वाली भाषा बनी है। हिन्दी के लचीलेपन का ही परिणाम है कि यह भारत के उत्तर से दक्षिण तक एवं पूर्व से पश्चिम तक विस्तार पा चुकी है। आदि काल, भक्ति काल, रीति काल, आधुनिक काल तथा वर्तमान काल तो मात्र एक समय सूचक मील के पत्थर हैं जो ज्ञात इतिहास की यात्रा में मील के पत्थर की तरह जगमगाते हैं। उन्नीसवीं सदी में जब भारत का पुनर्जागरण हो रहा था तब हिन्दी ने राष्ट्रीय चेतना के पुनर्जागरण का बिगुल बजाया। बीसवीं सदी के प्रारम्भ एवं मध्य तक हिन्दी ने भारत की स्वतंत्रता का शंखनाद किया तथा भारतीय अस्मिता, संस्कृति एवं नवनिर्माण की भावधारा को प्रवाहित किया। भारत की स्वतंत्रता के पश्चात् हिन्दी भारतीय जनमानस की अपेक्षाओं, आकांक्षाओं, विचारों प्रगति एवं विकास की संवाहक बनी है तथा आज तक बनी हुई है। 'सिंहासन खाली करो कि जनता आती है' की अनुगूँज क्या आज भी हमें विभिन्न अवसरों पर विभिन्न शब्द-रूपों में सुनाई नहीं देती?

बीसवीं सदी के अन्तिम दो दशकों में हिन्दी का अन्तर्राष्ट्रीय विकास बहुत तेजी से हुआ है। हिन्दी एशिया के व्यापारिक जगत में अपना स्वरूप बिम्बित करके अग्रणी भाषा के रूप में स्वयं को स्थापित कर रही है। ऑस्ट्रेलिया से अमेरिका तक तथा जापान से ब्राजील तक हिन्दी

का बहुमान बढ़ा है। विश्व के लगभग 150 विश्वविद्यालयों में तथा सैकड़ों छोटे-बड़े केन्द्रों में विश्वविद्यालय स्तर से शोध स्तर तक हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था हुई है।

2

सिनेमा, संगीत, इण्टरनेट, रेडियो, वेब विज्ञापन और बाजार के क्षेत्र में हिन्दी की मांग जिस तेजी से बढ़ी है, वैसी किसी और भाषा की नहीं। गूगल के अनुसार इण्टरनेट पर हिन्दी का अधिकाधिक प्रयोग होने लगा है। पिछले कुछ दशकों में हिन्दी के वेब पोर्टल अधिक संख्या में अस्तित्व में आए हैं तभी से इण्टरनेट पर हिन्दी ने अपना दबदबा बनाना शुरू कर दिया जो अब रफ्तार पकड़ चुकी है। संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे महाबली देश में हिन्दी को प्राथमिक स्कूल से स्नातक स्तर तक के पाठ्यक्रम में शामिल कर लिया गया है तथा अमेरिका सरकार अमेरिका के स्कूलों-कॉलेजों में हिन्दी सिखाने के लिए अनुदान देती है तो ऐसा हिन्दी की बढ़ती वैश्विक ताकत का ही प्रमाण है। हिन्दी को अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में स्थापित करने और विश्व हिन्दी सम्मेलनों के आयोजन को संस्थागत व्यवस्था प्रदान करने के उद्देश्य से ही विश्व हिन्दी सचिवालय की स्थापना की गई है। संयुक्त राष्ट्र द्वारा साप्ताहिक हिन्दी समाचार बुलेटिन अगस्त 2018 से प्रारम्भ किया गया है। भारत सरकार ने हिन्दी को संयुक्त राष्ट्र की भाषा बनाने के लिए व्यवस्था बनाना प्रारम्भ कर दिया है।

भारत की सांस्कृतिक धरोहर हिन्दी जब वैश्विक सम्मान प्राप्त करने की ओर अग्रसर है तब हम भारतवासियों का कर्त्तव्य बनता है कि हम सभी प्रदेशों के भाषा-भाषी अपनी प्रादेशिक भाषाओं का मान रखते हुए हिन्दी को भारत की वैश्विक पहचान बनाने के लिए सभी प्रकार के मतभेदों से ऊपर उठें। समस्त भारतवासी हिन्दी को भारत के 'वैश्विक स्वाभिमान की भाषा' बनाने के लिए 'एक हृदय' हो जाएँ। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के शब्दों में कहें तो हिन्दी भारत की सांस्कृतिक धरोहर इसी कारण है क्योंकि हिन्दी 'हृदय की भाषा' है।

3

'भाषा भारती' के पहले छः अंकों को आप सभी का जो प्यार और दुलार मिला वह हमारे लिए गौरव का विषय रहा। आशा करता हूँ कि 'राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी' को समर्पित यह सातवाँ अंक आप लोगों की कसौटी पर खरा उतरेगा। पहले की भाँति यह अंक भी हमारे सम्माननीय शिक्षकों, अधिकारियों एवं कर्मचारियों में हिन्दी-प्रेम का जादू बिखरेन में सक्षम होगा। इसी उम्मीद के साथ 'भाषा भारती' के सातवें अंक को आप तक पहुँचाते हुए मुझे हर्ष का अनुभव हो रहा है।

'भाषा भारती' को यथाशीघ्र प्रकाशित एवं प्रसारित करवाने की दिशा में निरन्तर प्रोत्साहित एवं प्रेरित करने वाले विश्वविद्यालय के माननीय कुलपति प्रो. आर.पी. तिवारी जी एवं

कुलसचिव कर्नल राकेश मोहन जोशी जी को पत्रिका प्रकाशन के शुभअवसर पर मैं ससम्मान याद कर रहा हूँ। दोनों महानुभवों की सदाशयता एवं सहृदयता के प्रति 'भाषा भारती' परिवार अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता है। 'भाषा भारती' पर विश्वास कर अपने महत्त्वपूर्ण सृजन को इसमें शामिल करने की अनुमति देने वाले सभी विद्वज्जनों के प्रति भी हृदय से आभार। सम्पादक मंडल के सदस्यगण, विश्वविद्यालय के शिक्षकों, अधिकारियों एवं कर्मचारियों से जो भरपूर प्यार एवं सहयोग मिला उसके लिए तहेदिल से शुक्रिया। पत्रिका से प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से जुड़े सभी विद्वज्जनों के प्रति हम सब कृतज्ञ हैं। विश्वास है कि आगे भी उनका सहयोग हमें यूँ ही मिलता रहेगा। आप लोगों की बेबाक टिप्पणी, निष्पक्ष प्रतिक्रिया एवं महत्त्वपूर्ण सुझावों का इंतजार रहेगा। इत्यलम्।

01.01.2020
नव वर्ष

–छबिल कुमार मेहेर
सी-100, विश्वविद्यालय परिसर
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर, मध्यप्रदेश, पिन-470003
मो. 8989154228

अनुक्रमणिका

कुलपति का संदेश
कुलसचिव का संदेश
सम्पादकीय

गाँधी चिंतन

युग–पुरुष गाँधी — 15
शिवमंगल सिंह 'सुमन'

गाँधी मोहन दास — 17
अम्बिका प्रसाद मिश्र

युग–पुरुष गाँधी के प्रति — 20
आनन्द मिश्र

महात्मा गाँधी और हिन्दस्वराज्य — 21
यशदेव शल्य

गाँधीजी की राष्ट्रभाषा दृष्टि — 32
विजय बहादुर सिंह

गाँधी और स्वच्छता — 36
विन्देश्वर पाठक

गाँधी और अहिंसा — 43
अनिल दत्त मिश्र

महात्मा गाँधी की पत्रकारिता के मायने — 48
पंकज सिंह

एक सच्चा कलाकार — 56
नन्दलाल बोस
हिन्दी रूपान्तर–अभिषेक सक्सेना

भाषा चिंतन

अँग्रेजी के सामने हिन्दी : रावण रथी विरथ रघुवीरा 62
जयकुमार जलज

राष्ट्र के पुनरुत्थान में भारतीय भाषाओं और साहित्य का योगदान 70
बलवन्त जानी

साहित्यिक भाषा और कार्यालयीन भाषा 73
गोपाल शर्मा

रवीन्द्रनाथ और हिन्दी 84
विनय मोहन शर्मा

वैज्ञानिक एवं तकनीकी सामग्री का अनुवाद 87
छबिल कुमार मेहेर

महादेवी के विचार-सिद्धान्त 99
किरण वट्टी

अवनद्य वाद्यों के वर्णों का भाषाई महत्त्व 103
राहुल स्वर्णकार

विमर्श

एक स्त्री-लेखक की तरह विकसित होते हुए 111
राजी सेठ

कैसी हो हमारी शिक्षा? 118
ज्योत्स्ना मिलन

किसने कहा था? ('उसने कहा था' के विशेष सन्दर्भ में) 123
कान्तिकुमार जैन

बुद्ध और अम्बेडकर का समत्व-भाव 128
सविता गुप्ता

कहानी

कौस्तुभ स्तम्भ 133
उषाकिरण खान

सिल 145
दिनेश अत्रि

कविता एवं ग़ज़ल

तीन कविताएँ 151
पंकज चतुर्वेदी

ग़ज़ल 153
नवीन कानगो

गुरु 156
प्रकाश जैन

कब तक 158
उषा राणा

परिशिष्ट 159

●●●

युग-पुरुष गाँधी

–शिवमंगल सिंह 'सुमन'

कितनी सदियों के पुण्य फले
तब तुम आय,
धरती के जागे भाग
मुक्ति के घन छाए,
सौभाग्य हमारा
हाड़-मांस का तन धरते
अपने-सा ही तुमको देखा चलते-फिरते
विश्वास हो गया
राम-कृष्ण की गाथा पर,
अमिताभ और
ईसामसीह की भाषा पर,
तुमको बिन देखे
कथा-कहानी-सी लगती,
ऋषियों-मुनियों की
बात बिरानी-सी लगती,
धड़कन विराट की
साँसों के स्वर में झलकी,
गीता, कुरान, बाइबिल
सब तुमने लिखी दिखी,
तुम शुद्ध, सत्य उद्घोष
असुर आराती पर,
प्रज्ज्वलित शिखा-सी
अंधकार की छाती पर,
विचरे, विह्वल मानवता को
पावन करने
करुणा के गंगाजल से
मंगलघट भरने
अनगिनित निरीहों की आशा–
भाषा बन कर,
मानवता की खोई आस्था
लौटा लाए।
हम बड़े पुजारी
घंटा-घड़ी बजाते हैं,
आरती उतारा करते
कीर्तन गाते हैं,
अक्षत, रोली, फल-फूल पत्र दूर्वा नवीन,
मधू, धूप-दीप नैवेद्य चढ़ाने में प्रवीण,
सदियों से शोषक–
सत्ता का सत्कार किया,
देवता द्वार पर आया तो
दुत्कार दिया,
कहने को तो हम
आत्मशक्ति के विश्वासी,
आस्तिकता की निष्ठा सजीव
निष्काम कर्म के अभ्यासी
पर चलती-फिरती क्षमा दया जब घर आई
निर्भय निष्ठा विगलित-करुणा
तामसी शक्ति से टकराई,
बौखला उठा तब
धम-धुरीणों का समाज,

हम भूल गए सब
    ज्ञान ध्यान पूजा नमाज,
साधना सिद्धिमय पुरश्चरण के
    मंत्र पढ़े मीठे-मीठे
मानव संस्कृति के स्वर्ण-कमल पर
    रक्त-बिन्दु हमने छींटे
प्रार्थना हमारी प्रायश्चितों से पूरित
    हे क्षमामूर्ति ! क्या हम जैसे अकृतज्ञों को अपनाओगे ?
ओ, मानवता के सिन्धु-मथन के सुधाकलश !
    अब कितनी सदियों बाद धरा पर आओगे ?

गाँधी काव्य-कुसुमांजलि
सं. नर्मदाप्रसाद खरे
मध्यप्रदेश गाँधी शताब्दी समिति (1969)

गाँधी मोहन दास

–अम्बिका प्रसाद दिव्य

ऐसा मानव हुआ पूर्व कब, ढूँढ़ रहा इतिहास,
जैसा हुआ एक भारत में गाँधी मोहन दास।
मिला न भुवनभास्कर में भी, उस जैसा आलोक,
जो दे अन्तर्ज्योति जगत को, हरे तिमिर-भय-शोक,
विश्वरूप ही होकर जिसने, देखा हो यह विश्व,
मन से हटा गहनतम तन का–मायामय निर्भीक,

जिसमें दिखता अन्तर्तम का–था वह एक प्रकाश।
नहीं चन्द्र में भी उस जैसी, देखी शीतल शान्ति,
जड़-चेतन में जो भर देती, एक अलौकिक क्रान्ति,
दीप्तमान हो उठता जिससे, तमसित अन्तर्लोक,
ज्वार एक मानस में आता, उठती अद्‌भुत क्रान्ति,

जिसमें हँसता विश्व मुदित हो–था वह, वह, मृदु हास।
मंगल ग्रह पर भी उस जैसी, मिली न मंगल मूर्ति,
जो दुख-शोक हटाकर जग का, करती सुख की पूर्ति,
जो भयभीत सृष्टि से सारी, ईति-भीति को जीत,
शिथिल धमनियों में ला भरती, एक नई स्फूर्ति,

जिससे होता उर्मिल जीवन–था वह, वह उल्लास।
नहीं बुद्ध पर भी उस जैसी, पाई अनुपम बुद्धि,
जिससे शुचि संरक्षण पाती, एक आन्तरिक शुद्धि,
टिक पाता है कहीं न जिसमें, कल्मष का सोपान,
रुक जाती है जिससे, सारी मानवता की वृद्धि,

जिससे होती विकसित प्रज्ञा—था वह एक विकास।
गुरु ग्रह में भी मिली न गुरुता, उस जैसी अम्लान,
बदल धरा का ही जो देती, सारा अधम विधान,
जरा-जीर्ण इस जग को देती, एक नया आदर्श,
जिससे होता प्राणि-मात्र का, सार्वभौम उत्थान,

जिससे विश्व स्वयं ही चलता—था वह, वह विश्वास।
नहीं शुक्र ग्रह पर भी देखा, ऐसा शुद्धाचार्य,
जो पृथ्वी पर आकर करता, शुद्ध नीति से कार्य,
जिससे एक सभ्यता अभिनव, होती आविर्भूत,
आर्य जिन्हें जग कहता आया, बनता मानव आर्य,

जिससे प्राणवान जग होता—था वह, वह उच्छवास।
शनि पर लगा स्वयं शनि देखा, पाया उसको खिन्न,
पाई उसकी प्रगति अधोमुख, सभी ग्रहों से भिन्न,
पृथिवी को जब लगा, लगा वह, होकर ही विपरीत,
करने आया भौतिक जग की आशायें ही खिन्न,

प्राणि-मात्र के सुख सपनों का—था वह एक प्रयास।
जिसमें ध्रुव-सी धृति थी दृढ़तम, ध्रुव-सा ही साकार,
रचित शिराओं से किरणो की, जिसका था संसार,
शून्य शून्य अति महा शून्य का, गोचर एक प्रतीक,
अति असीम की सीमा ही लघु, सीमाहीन अपार,

जिसमें ज्योतित सब ग्रह तारे—था वह, वह आकाश।
सत्य-लोक का सत्य शाश्वत, अपने में सम्पन्न,
जग की माया से जो होता, कभी न अल्प विपन्न,
धूप छाँह कुछ वांछ्य न जिसको, दोनों में पर व्याप्त,
परे कलुष के, दृश्र्य कलुष में, जिसका रूप प्रछन्न,

सत्य-रूप वह ईश्वर जिसमें—था वह एक निवास।
आहत इस दुनियाँ के पहुँचे, कहाँ न जाने भाव,
कहाँ न जाने अन्तरिक्ष में, बने नये प्रस्ताव,
आर्द्र हुआ मानव पर जाने, निर्जर कौन वरेण्य,
आया उतर अवनि पर अपने लेकर नये सुझाव,

वेगवान हो चला भूमि पर—पवनों का उंचास।
कहाँ न जाने पहुँचा जग के, त्रस्त दृगों का नीर,
संचित किये हृदय में अपने, सारी सकरुण पीर,
सागर सा भर गया कहाँ पर, उठा और बन मेघ,
उतरा भू पर फिर धारण कर अपना नया शरीर,

करते मेघ जिसे जीवन का—था वह, वह अभ्यास।
जौहर हुए यहाँ जो उनकी, कहाँ न जाने आग,
पहुँची ऊपर परे व्योम के, इस दुनियाँ को त्याग,
उतरी फिर से भेषज कोई; नवल, धवल, धर देह,
दुखित नारियों को फिर देने, उनका लुटा सुहाग,

एक नया ही युग था आया, लेकर यहाँ प्रवास।
एक अहिंसा का नव उसने, दिया निराला अस्त्र,
सत्याग्रह का तथा अकल्पित, अति अमोघ सा शस्त्र,
अनशन का शुचि दिया क्षुवा को, भोजन सुधा समान,
अर्धनग्नता से ही अपनी, दिये विश्व को वस्त्र,

बर्बर जग में वह बन आया—एक विरोधाभास।
बर्बर शासक हुए धरा के, किंकर्तव्यविमूढ़,
गिरा गर्व का दिग्गज नीचे, जिस पर थे आरूढ़,
सत्य अहिंसा सत्याग्रह के, सन्मुख चली न एक,
असफल हुई कुटिलतम उनकी, राजनीति अति गूढ़,

हरा भरा जो जग को करता—था गाँधी मधुमास।
जग के ही आहत भावों का, था वह आविर्भाव,
प्रकट हुआ जो नये रूप में, लेकर नया प्रभाव,
मानव ही जिस भव-सागर में करता उल्कापात,
वात-चक्र के नीचे उसमें, कैसे खेवे नाव,

आया बापू कर्णधार बन—हरने भव-भय-त्रास।

गाँधी काव्य-कुसुमांजलि
मध्यप्रदेश गाँधी शताब्दी समिति (1969)

युग-पुरुष गाँधी के प्रति

–आनन्द मिश्र

विश्व के सबसे बड़े वरदान, मेरी वन्दना लो।
क्या तिमिर था, पथ पर चलना तलक दूभर हुआ था,
जगमगाना क्या, सिसक जलना तलक दूभर हुआ था,
और तब तुम-सा अभय-आशीष दुनिया को मिला था,
आपदाओं का कलेजा भी जिसे देख, हिला था,
लक्ष्य के सुलझे हुए संधान मेरी वन्दना लो।
विश्व के सबसे बड़े वरदान, मेरी वन्दना लो।

मौन गुंजन थे, चमन के फूल मुरझाये हुए थे,
क्यारियाँ उजड़ीं, भयानक ध्वंस मदमाये हुए थे,
जीभ कोयल की सिली थी, 'पी-कहाँ' के गान बन्दी,
पर, जहाँ तुम, रह न सकते थे वहाँ अरमान बन्दी,
भूमि पर थे स्वर्ग का सामान, मेरी वन्दना लो।
विश्व के सबसे बड़े वरदान, मेरी वन्दना लो।

पी गये विष-कोष, हमने पा लिया मधु-दान, दानी!
प्राण देकर दे गए तुम जड़-जगत को प्राण, दानी!
काल तुम को खा गया या काल को तुम खा गये हो,
मृत्यु चिर-जीवन जहाँ उस बिन्दु तक तुम आ गये हो,
वन्दना लो, मुक्ति के सोपान! मेरी वन्दना लो।
विश्व के सबसे बड़े वरदान! मेरी वन्दना लो।

गाँधी काव्य-कुसुमांजलि
मध्यप्रदेश गाँधी शताब्दी समिति (1969)

महात्मा गाँधी और हिन्दस्वराज्य

–यशदेव शल्य

महात्मा गाँधी का 125वाँ जन्मदिन भारत सरकार और प्रादेशिक सरकारों द्वारा बहुत धूमधाम से मनाया जा सकता है। यह एक विचित्र विडंबना है कि इस सरकार ने जिस अर्थ-नीति का सूत्रपात किया है वह गाँधी जी की अर्थ-नीति से हमारी पहले की भारत-सरकारों की अर्थ-नीति की तुलना में कोसों दूर है। ऐसा नहीं कि पहले की भारत-सरकारों की अर्थ-नीति गाँधी जी का लिहाज़ रखते हुए उनकी अर्थ-नीति से कम दूर थी। गाँधी जी का लिहाज़ तो नेहरू जी के नेतृत्व में स्वतंत्र भारत की सरकार ने उनके देहान्त के साथ ही छोड़ दिया था, इसलिए उनकी नीति से उस सरकार की नीति का कम या अधिक दूर होना केवल सांयोगिक ही था, गाँधी-दृष्टि के प्रति किसी आदर से प्रेरित नहीं था। किन्तु तब भी, यह सरकार जो गाँधी-दृष्टि से सुचिन्तित रूप से और अधिक दूर हटी है उसका उनके नाम-स्मरण में इतनी अधिक रुचि दिखाना क्या विडंबना नहीं है? इस विडंबना के कारणों की खोज में जाने का यहाँ कोई लाभ नहीं है, संभवतः ये कारण इस सरकार में धर्म-पुरुषार्थ से प्रेरित तो नहीं ही जान पड़ते, केवल अर्थ और काम-पुरुषार्थों से प्रेरित ही जान पड़ते हैं। किन्तु सरकार के संचालकों का अर्थ और काम पुरुषार्थों की दृष्टि से गाँधी जी को प्रासंगिक मानना भी इस बात का द्योतक तो है ही कि गाँधी जी जन-मानस में कहीं जीवित हैं, वे वहाँ पूरी तरह मरे नहीं हैं।

किन्तु क्या इस जन की भी गाँधी जी में वास्तव में कोई रुचि है? यदि जन की गाँधी जी में वास्तव में कोई रुचि होती तो कोई सरकार उनकी दृष्टि के विपरीत नहीं जा सकती थी। आज जो हम तथाकथित आर्थिक उदारीकरण की नीति का सभी राजनीतिक दलों द्वारा समर्थन देख रहे हैं वह वास्तव में व्यापक जन-मानस का ही प्रतिबिंब है। तब गाँधी जी जन-मानस में किस अर्थ में जीवित हैं? एक रूमानी कल्पना के रूप में या कि 'आत्मा की आवाज़' के रूप में, जिसका मनुष्य प्रायः ही अनुसरण तो नहीं करता किन्तु तब भी जो उसके भीतर कभी-कभी कुछ बोल कर उसे कचोटती रहती है? जिससे वह चाह कर भी छुट्टी नहीं पा पाता?

किन्तु यह 'गाँधी' है क्या? कुछ लोग कहते सुने जाते हैं कि 'वह आज भी प्रासंगिक है।' जैसे वह कोई हज़ारों वर्ष पहले हुआ हो। वह आज-ही और-अभी-अभी-की तो बात है? बुद्ध की तरह कोई 25 सौ वर्ष पहले की बात नहीं है। तब उसके 'आज भी' प्रासंगिक होने

की बात क्यों की जाती है? क्या इसलिए नहीं कि वह वास्तव में कभी अपने जीवन-काल में भी प्रासंगिक नहीं रहा, चाहे वह कितना भी बड़ा जन-नायक क्यों नहीं रहा हो? इसके विपरीत आईंस्टाईन ने कहा था कि ''आने वाली पीढ़ियाँ इस बात पर विश्वास करना कठिन पायेंगी कि इस धरती पर और हमारे ही जैसी हाड़-मांस की देह में कोई ऐसा भी व्यक्ति हुआ है जैसा गाँधी था।'' ये उद्गार उस व्यक्ति के थे जो विश्व का सबसे बड़ा वैज्ञानिक था, उस व्यक्ति के प्रति, जो उस संपूर्ण दृष्टि का सबसे बड़ा आलोचक था जिसका सूत्रपात विज्ञान के रूप में और विज्ञान के द्वारा हुआ था। किन्तु ये उद्गार जबकि गाँधी जी के प्रति आदर और श्रद्धा की पराकाष्ठा के द्योतक हैं ये परोक्षतः यह भी व्यक्त करते हैं कि गाँधी किसी भी युग विशेष के लिए प्रासंगिक नहीं था। वह केवल सार्वकालिक था- आत्मा की आवाज़ की तरह, जिसे हम अक्सर कभी नहीं सुनते, किन्तु जो हमारे भीतर सदैव और समान रूप से बोलती है। यह आवाज़ किसी कंठ से नहीं बोलती, इसलिए उसके लिए न किसी धरती की आवश्यकता होती है और न हाड़-मांस की। बस आश्चर्य की बात यह है कि यह आवाज़ मोहनदास करमचन्द गाँधी के रूप मे इस धरती पर और हमारे ही जैसे हाड़-मांस की देह के माध्यम से प्रकट हुई।

यह हाड़-मांस की देह वाला गाँधी क्या था? उसके माध्यम से क्या आवाज़ प्रकट हुई थी? यह हम संक्षेप में उसकी एक छोटी सी पुस्तिका 'हिन्दस्वराज्य' की समीक्षा के द्वारा देखने का प्रयत्न करेंगे। निश्चय ही यह पुस्तिका महात्मा गाँधी को पूर्ण रूप से समझने के लिए पर्याप्त नहीं हो सकती, किन्तु तब भी संस्कृति, समाज, विज्ञान और राजनीति विषयक उनके विचार बीज रूप में इसमें पर्याप्ततः संगृहीत हैं।

किन्तु हज़ारों पृष्ठों में संगृहीत उनके वाङ्मय से कहीं अधिक विपुल उनका जीवन और उसकी चर्या थी।

* * *

महात्मा गाँधी की तीन विशेषताएँ कही जा सकती हैं, जो संयुक्त रूप से उन्हें अद्वितीय बनाती हैं। इनमें पहली विशेषता है एक आदर्श मानव-जीवन की कल्पना के अनुसार अपने अन्तर और बाह्य जीवन के नियोजन में नितान्त निर्मम दृढ़ता। दूसरी विशेषता है इस आदर्श-कल्पना के अनुसार आचरण में उनका वैयक्तिक और सामूहिक संदर्भों को अलग नहीं रखना, जैसाकि प्रायः सभी रखते हैं, और तीसरी विशेषता है जटिल और भोगपरक जीवन-पद्धति से एक सहज वितृष्णा। यद्यपि यहाँ उनकी प्रथम विशेषता पर विचार अपने-आप में प्रासंगिक नहीं है किन्तु वास्तव में उनकी यह विशेषता उनके सामाजिक-राजनीतिक जीवन के निर्माण और उनके स्वरूप-निर्धारण में इतनी महत्त्वपूर्ण है कि उसके बिना उनके जीवन के सामाजिक-राजनीतिक पक्ष को भी ठीक तरह से नहीं समझा जा सकता। उदाहरण के लिए, उनके जीवन को निर्णायक मोड़ देने वाली घटना दक्षिण अफ्रीका में एक श्वेत जातीय रेल्वे गार्ड द्वारा उनका अपमान करना था। इस अपमान को गाँधी जी एक व्यक्तिगत अपमान के रूप में भी ले सकते थे और अपना

ध्येय श्वेतों को भारत में, या सर्वत्र, नीचा दिखाना बना सकते थे। वही स्वाभाविक भी होता। किन्तु उन्होंने इस घटना को एक मूलगामी नैतिक संदर्भ में ही देखा, जिस दृष्टि के साथ वे अहंकार-भाव से सदा के लिए उत्तीर्ण हो गए। इस घटना में उन्हें मनुष्य की व्यापक भ्रान्त दृष्टि का और आधुनिक यांत्रिक-औद्योगिक संस्कृति की दिशा-भ्रष्टता का एक उदाहरण ही दिखायी दिया। यह एक ऐसी प्रतिक्रिया थी जो एक पूर्णतः निरहंकार, अक्लिष्ट और निष्कलुष चेतना में ही घटित हो सकती थी। किन्तु यह प्रतिक्रिया द्विमुखी थी। यह जहाँ एक ओर निरहंकार चित्त में घटित हुई दूसरी ओर इसने गाँधी जी को सदा के लिए निरहंकार, अक्लिष्ट और निष्कलुष चित्त-भूमि पर प्रतिष्ठित कर दिया। इसके साथ गाँधी जी का आमूल रूपान्तरण हो गया। किन्तु इसके साथ एक और आधारभूत रूप से विलक्षण दृष्टि का सूत्रपात हुआ। वह दृष्टि थी इस नौतिक-आध्यात्मिक बोध का सामाजिक-राजनीतिक संदर्भ से जुड़ जाना। यह घटना महात्मा गाँधी के लिए ऐसे आत्मशोधन की प्रेरक बनी जिसका मार्ग राजनीतिक कर्म के क्षेत्र से होकर था। यद्यपि मूलतः उनकी दृष्टि धार्मिक-आध्यात्मिक ही थी, किन्तु इस दृष्टि के चरितार्थन का क्षेत्र न तो एकान्त साधनापरक था और न धार्मिक विचार और अनुष्ठान तक सीमित। इसका क्षेत्र जीवन के सभी पक्षों पर व्यापक था और मुख्य संदर्भ वह क्षेत्र था जिसे धर्म और अध्यात्म दोनों से असम्बद्ध माना जाता है। यहाँ गाँधी जी की दृष्टि की मौलिकता द्रष्टव्य है। सब धर्म-प्रवर्तकों ने सामाजिक स्तर पर ही कार्य किया, उनके धार्मिक-नैतिक कार्य का क्षेत्र समाज ही था। बुद्ध ने तो धर्म-शरण जाने के साथ संघ-शरण जाने को भी अपनी धर्म-दीक्षा का मूल सूत्र बनाया। किन्तु उनका विषय वैयक्तिक जीवन-संदर्भ ही रहा, सामाजिक जीवन-संदर्भ नहीं। जहाँ धर्म-प्रवर्त्तकों का क्षेत्र सामाजिक जीवन-संदर्भ भी बना वहाँ यह संदर्भ धर्म के अन्तरंग के रूप में नहीं बना, वह केवल उनके कर्म-क्षेत्र के अंतर्गत एक पृथक् विषय के रूप में ही रहा, जैसे स्वामी दयानंद के लिए अछूतोद्धार और स्त्री-शिक्षा आदि। वास्तव में महात्मा गाँधी अन्य धर्म-प्रवर्त्तकों के समान धर्म-प्रवर्त्तक थे ही नहीं, वे तो केवल धार्मिक थे—शुद्ध और सनातन धर्म के अनुयायी, इसीलिए वे किसी धार्मिक सिद्धान्त के प्रतिपादक नहीं थे, बल्कि धर्म-तत्त्व के ध्यायी थे, और इसी से जीवन का कोई पक्ष उनकी धर्म-साधना से अछूता नहीं रह सकता था। इसी से उनकी राजनीतिक सभा प्रार्थना-सभा भी थी और प्रार्थना-सभा राजनीतिक सभा। उनका शस्त्र सत्याग्रह और प्रेम था और उनकी युद्ध-स्थली का संदर्भ राजनीति। ऐसा धर्म-प्रवर्त्तक और ऐसा राजनेता किसी ने कभी और कहीं दूसरा देखा है?

ऐसा व्यक्ति, यदि गाँधी जी को व्यक्ति कहा जा सके तो, जटिल और भोगपरक जीवन-पद्धति एवं उसमें मूलित सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था को अस्वीकार ही कर सकता है, उसका समर्थन नहीं कर सकता। किन्तु आधुनिक यूरोप की ऐन्द्रिक संस्कृति[1] और यांत्रिक-औद्योगिक सभ्यता का यही रूप था जिसे वह विश्व की सभी संस्कृतियों और सभ्यताओं पर आरोपित करने जा रहा था। इस संस्कृति और सभ्यता के इस रूप को और इसके भयावह

परिणामों को गाँधीजी ने उस समय स्पष्ट रूप से देखा जिस समय यह अभी किशोरावस्था में ही थी और इसका केवल आकर्षक रूप ही प्रकट था। 'हिन्दस्वराज्य' का पहला संस्करण 1909 में प्रकाशित हुआ था और इसके मूल विचार लेखों के रूप में इससे पहले प्रकाशित हो चुके थे। यह वह समय था जब इंग्लैंड में बर्ट्रंड रसल और जी.ई.मूर ने इस संस्कृति के दर्शन की विजय-पताका फहराई थी और आईंस्टाईन के सापेक्षता-सिद्धान्त के रूप में विज्ञान में नये युग का प्रवर्त्तन किया था। आज इस संस्कृति और सभ्यता का भयावह रूप सब पर प्रकट है किन्तु इसके सामने सब अवश हैं। हमारे देश ने भी स्वतंत्रता के बाद यही मार्ग चुना और अब हम तथाकथित 'आर्थिक उदारीकरण' के रूप में इसके कुरूपतम परिणाम 'बाज़ारवाद' को ही अपना रहे हैं। किन्तु महात्मा गाँधी ने इसकी इस कुरूपता को इस शताब्दी के आरंभ में ही अपनी क्रान्त दृष्टि से देख लिया था।

किन्तु गाँधी जी की इस दृष्टि की मीमांसा अपेक्षित है जो हम यहाँ संकेत रूप में करना चाहेंगे। उनकी दृष्टि की यह मीमांसा शायद किसी ने की नहीं है। उनके विचारों को प्रायः सभी ने 'आदर पूर्वक' एक तरफ करके वह सब किया है जिसका वे विरोध करते थे, जैसे हम 'आत्मा की आवाज़' के साथ हमेशा करते हैं। जिन विरले लोगों ने इसका थोड़ा-बहुत अनुसरण किया उन्होंने भी अंध भक्ति के साथ ही ऐसा किया, उनमें उसके सम्बन्ध में कोई विचार, कोई मीमांसा का उपक्रम दिखायी नहीं देता।

* * *

यंत्र स्वरूपतः हमारी ज्ञान और कर्म की इन्द्रियों का विस्तार मात्र है, यह इनकी शक्ति-वृद्धि का साधन है। इस प्रकार चूल्हा, चक्की, चर्खा, इक्का या बैलगाड़ी सब यंत्र ही हैं, वास्तव में हमारा शरीर और इन्द्रियाँ भी यंत्र ही हैं। आवश्यकता होने पर हम टांगों से चलते हैं, जल्दी पहुँचने के लिए दौड़ते भी हैं। इसी प्रकार और जल्दी पहुँचने के लिए इक्के से वायुयान तक उपकरण बनाते हैं। भारतीय सभ्यता ने भी अपने आरंभ काल से यथाशक्ति इन यंत्रों का आविष्कार किया था और विमान बना नहीं पायी थी तो उसकी कल्पना तो की ही थी- भगवान राम लंका से अयोध्या रथ से नहीं, पुष्पक विमान से पहुँचे थे। इसी प्रकार युद्ध में संहार के लिए भी हमारी सभ्यता ने गदा और धनुर्बाण आदि शस्त्रास्त्रों का आविष्कार ही नहीं किया, सर्प-बाण, अग्नि-बाण और वज्र तथा ब्रह्मास्त्र जैसे भयानकतम शस्त्रों के बनाये होने की कल्पना भी की थी। इस प्रकार हमारी सभ्यता यंत्र-कौशल और संहारक हिंस्रता की दृष्टि से पाश्चात्य सभ्यता से भिन्न नहीं कही जा सकती। और यदि हमारी सभ्यता ही भिन्न नहीं कही जा सकती है तो दूसरी कोई तो क्या कही जा सकेगी ! पाश्चात्य सभ्यता दूसरी सभ्यताओं से भिन्न इस बात में है कि यह केवल उसकी ही नियति बनी कि वह यंत्र-विद्या के एक नितान्त भिन्न स्तर की जन्मदात्री बनी और इस कारण वह संसार की अन्य सभ्यताओं की नेता बन गई। अब इसके

नेतृत्व में संसार की अन्य सभ्यताएँ यंत्र और आयुध की दौड़ में सम्मिलित हैं और इससे उनकी संस्कृतियों के लिए संकट भी उत्पन्न हो रहा है।

किन्तु यह विचारणीय है कि क्या यह नियति सभ्यताओं के लिए वांछनीय भी कही जा सकती है? क्या संस्कृतियों का नेतृत्व ऐसी संस्कृति के हाथों जाना मनुष्य के लिए हितकर है जो ऐन्द्रिक शक्ति और ऐन्द्रिक भोग की सिद्धि को ही लक्षित करे और इस प्रकार ऐन्द्रिकता को मनुष्य की प्रगति और श्रेयस् का मानदंड निर्धारित करे?

'हिन्दस्वराज्य' में महात्मा गाँधी ने पहली बार, और उतने ही मूलगामी रूप से जितने मूलगामी रूप से पाश्चात्य सभ्यता ने यंत्र के रूप में ऐन्द्रिकता का उत्कर्ष सिद्ध किया था, इस उत्कर्ष की मनुष्य के लिए वांछनीयता को अस्वीकार किया और इसके विरुद्ध उद्घोषित किया कि मनुष्य की उत्कृष्टता आध्यात्मिकता की सिद्धि में है ऐन्द्रिक शक्ति की सिद्धि में नहीं , और यह जितना व्यक्ति के लिए सही है उतना ही समाज के लिए भी, उसके राजनीतिक, पक्ष के सहित, सही है।

नैतिक बोध और आचरण के दो मूलभूत नियम हैं—सत्य और अहिंसा। इसमें दूसरे नियम को जितना गहराई से भारत ने, विशेषतः जैनों और बौद्धों ने समझा था उतना और किसी धर्म या संस्कृति ने नहीं समझा था। किन्तु ये राजनीतिक संघर्ष में भी उतने ही पालनीय हैं जितने व्यक्तिगत जीवन में, यह महात्मा गाँधी ने ही पहली बार देखा और इस दृष्टि को आचरण में पहली बार क्रियान्वित किया। द्रष्टव्य है कि इस दृष्टि की कठोरतम परीक्षा का युग भी आज ही उपस्थित हुआ था। निश्चय ही महाराजा अशोक ने भी एक सीमा तक इस तत्त्व का, कि नैतिकता, अहिंसा सहित, राजनीति में भी उतनी ही आचरणीय है जितनी व्यक्तिगत जीवन में, साक्षात्कार किया था किन्तु उनके सम्मुख कोई चुनौती नहीं थी, इसीलिए उस समय इस दृष्टि के एक आधारभूत ऐतिहासिक दृष्टि बनने का भी प्रसंग नहीं था। किन्तु गाँधी जी की मूलगामी नैतिक चेतना ने, और उनके सम्मुख उपस्थित कल्पनातीत सैन्य शक्ति-संपन्न साम्राज्यवादी शासन से लोहा लेने की चुनौती ने यह प्रसंग उपस्थित किया और गाँधी जी इसमें पूरे खरे उतरे।

किन्तु खेद की बात है कि गाँधी जी में उनके इस सहज बोध और अडिग साहस के समतुल्य सूक्ष्म और युक्तियुक्त विचार दिखायी नहीं देता। 'हिन्दस्वराज्य' पुस्तक का महत्त्व इसी बात में है कि इसमें गाँधीजी की क्रान्त दृष्टि अपने बीज रूप में पूरी तरह से मिल जाती है। द्रष्टव्य है कि सूक्ष्म और युक्तियुक्त विचार सत्य भी हो ऐसा कोई आवश्यक नहीं होता। असत्य विचार भी बहुत सूक्ष्म और युक्ति-पूर्ण हो सकता है और सूक्ष्म विचार से रहित सहज दृष्टि बहुत बार सत्य-दर्शी हो सकती है, किन्तु किसी सहज दृष्टि के सूक्ष्म और युक्तियुक्त विचार से व्यवस्थित और पुष्ट हुए बिना वह व्यवहार में, विशेषतः सामाजिक प्रयोग में, सफल नहीं हो सकती, विशेषतः आज के इस बुद्धि-प्रधान युग में। यहाँ हम 'हिन्दस्वराज्य' से कुछ ऐसे

उदाहरण देंगे जिनमें दृष्टि की क्रान्त सत्यदर्शिता तो अद्भुत है किन्तु उसमें न केवल कोई युक्ति ही नहीं है बल्कि अयुक्तता भी है। उदाहरण के लिए महात्मा गाँधी ने 'हिन्दस्वराज्य' में अखबार और पार्लियामेंट को संस्थागत रूप में अस्वीकार किया। अखबार के विरुद्ध उनका तर्क है कि ये ''अप्रामाणिक होते हैं, एक ही बात को दो शकलें देते हैं। एक दल वाले उसी बात को बड़ी बात बनाकर दिखाते हैं तो दूसरे दल वाले उसी को छोटी करके कहते हैं।...जिस देश में ऐसे अखबार हैं उस देश के आदमियों की कैसी दुर्दशा होगी?'' अब, यह तर्क कितना कमज़ोर है यह देखने की बात है। क्या कोई भी कथन, प्रतिपादन या व्याख्या कभी भी सर्वपक्षीय या सर्वमान्य होते हैं? उदाहरण के लिए 'गीता' के असंख्य भाष्य हैं, उनमे एक महात्मा गाँधी का भी है जो शायद सबसे अधिक अमान्य है। तब क्या 'गीता' के ये विभिन्न भाष्य, जो एक-दूसरे से अलग बात कहते हैं, अनर्थकारी हैं? इसी प्रकार ब्रिटिश पार्लियामेंन्ट के संबंध में वे कहते हैं—''पार्लियामेंट में लोग इस आधार पर चुने जाते हैं कि वे विशेष अच्छे और समझदार हैं। ऐसी हालत में पार्लियामेंट को बहुत अच्छे कार्य करने वाली होना चाहिए। किन्तु इससे उलटे इतना तो सब कबूल करते हैं कि पार्लियामेंट के मेंबर दिखावटी और स्वार्थी पाये जाते हैं। सब अपना मतलब साधने की सोचते हैं।'' ...आदि। अब, पार्लियामेंट के विरुद्ध यह तर्क कैसे युक्तियुक्त हुआ? यह बात तो ठीक इसी तरह ग्राम-पंचायत पर भी लागू होगी। इसी तरह, जैसा कि हम सब जानते हैं, महात्मा गाँधी के प्रायः सब सहयोगियों ने मन में उन्हें अस्वीकार किया, उनमें बहुत से तो दुराचारी भी थे। तब क्या इस पर से यह कहा जाय कि गाँधी जी की दृष्टि बेकार और बेतुकी थी? यदि इस बात को गाँधी-दृष्टि की व्यावहारिकता के विरुद्ध तर्क कहा जाय तो यह कुछ सीमा तक विचार्य कहा भी जा सकता है किन्तु पार्लियामेंट के विरुद्ध गाँधी जी के तर्क को तो उस सीमा तक भी सही नहीं कहा जा सकता। उसे केवल मानव-प्रकृति की दुर्बलता का एक दृष्टान्त ही कहा जा सकता है। किन्तु पार्लियामेंट प्रजातंत्रवाद की एक संस्था है और यह वाद मानव-प्रकृति को विवेक-पूर्ण कम और पशुतापूर्ण अधिक मानता है, और यह मान्यता पार्लियामेंट की अवधारणा की एक अंग है न कि मानव की सत्प्रकृतिपरक मान्यता, जैसाकि गाँधी जी कहते हैं। इसलिए पार्लियामेंट को एक अस्वीकार्य संस्था दिखाने के लिए यह दिखाना होगा कि प्रजातंत्रवाद ही एक सदोष दर्शन पर आधारित है, जैसा कि प्लेटो ने 'रिपब्लिक' में दिखाया है और गाँधी-दृष्टि की व्याख्या में मैंने कुछेक स्थलों पर दिखाने का प्रयत्न किया है।[2] गाँधी जी ने ऐसा कोई व्यवस्थित विचार प्रस्तुत नहीं किया है। यह बात अपने-आप में कोई दोष नहीं है, क्योंकि कोई सिद्ध पुरुष या साधक प्रायः ही कोई व्यवस्थित विचार प्रस्तुत नहीं कर पाता। दोष यह है कि गाँधीजी के प्रतिपादन और तर्क कुछ विशेष ही स्थूल और कमज़ोर हैं, विशेषतः 'हिन्दस्वराज्य' में। अब, पार्लियामेंट के समान ही अखबार के संबंध में उनकी दृष्टि जबकि पूर्णतः सही है, उनका तर्क अत्यधिक कमज़ोर है। अखबार निश्चय ही एक अवांछनीय

परिस्थिति में उपजी एक अवांछनीय संस्था है किन्तु गाँधी जी की युक्ति से नहीं बल्कि इसलिए क्योंकि यह राजनीति को हमारी चेतना में केन्द्रीय और अत्यधिक असंतुलित महत्त्व के पद पर प्रतिष्ठित करती है। इसके अतिरिक्त, यह एक बहुत अधिक सशक्त जनमत-निर्धारक साधन है और ग़लत हाथों में होने पर यह जनमत को भ्रान्त दिशा देकर बहुत हानिकारक सिद्ध हो सकता है, और बहुत कुछ ऐसा ही इस साधन के साथ हो भी रहा है। इसी प्रकार, रेलगाड़ी के विरुद्ध उनकी युक्ति है– ''रेल से महामारी फैलती है। अगर रेलगाड़ी न हो तो कुछ ही लोग एक जगह से दूसरी जगह जाएंगे और इस कारण संक्रामक रोग सारे देश में नहीं फैल पायेंगे।'' आगे वे कहते हैं ''बुरी बात ही तेज़ी से बढ़ सकती है।... इसलिए रेलगाड़ी हमेशा दुष्टता का ही फैलाव करेगी।'' आगे वे इसे अकाल की कारक भी कहते हैं क्योंकि इससे अनाज एक जगह से दूसरी जगह ले जाया जा सकता है। अब, यह युक्ति ऐसी है जो देते हुए किसी पिछड़े गाँव की अपढ़ बूढ़ी स्त्री भी शरमायेगी। ज़रा सोचिये, महामारियाँ पहले अधिक फैलती थीं या अब अधिक फैलती हैं? दूसरे, गाँधी जी का प्रभाव जो सब से अधिक फैला वह बुराई से अच्छाई अधिक और जल्दी फैलने का प्रमाण है या कि अच्छाई से बुराई के? आगे वे एक दूसरी ऐसी ही युक्ति देते हैं। युक्ति है ''मनुष्य इस तरह पैदा किया गया है कि उसे अपने हाथ-पैर से बने उतनी ही आने-जाने बग़ैरा की हलचल करनी चाहिए।'' अब, यह ग़ज़ब की युक्ति है, क्योंकि एक मात्र मनुष्य ही इस तरह बना है जो यंत्रों का आविष्कार कर सकता है और इस तरह पैर से चलने तक सीमित रहने के बजाय रेलगाड़ी और वायुयान से चलने को संभव कर सकता है। ऐसी अवस्था में प्रश्न यह नहीं है कि मनुष्य कैसे बना है बल्कि यह है कि उसके वायुयान बना सकने की सामर्थ्य के बावजूद क्या उसे वह बनाना चाहिए और यदि बनाना चाहिए तो उसका कितना और कैसा उपयोग करना चाहिए?

द्रष्टव्य है कि बाद में गाँधी जी ने यंत्र विषयक अपने मत में संशोधन किया और बृहद् यंत्रों की आवश्यकता स्वीकार की, किन्तु उनका स्वामित्व राज्य के पास होना चाहिए यह प्रस्तावित किया। जैसाकि हम जानते हैं, यही मत कार्ल मार्क्स का भी था। किन्तु यह भी हम जानते हैं कि इसके पीछे कार्ल मार्क्स का कितना गहरा चिन्तन था जबकि महात्मा गाँधी के इस चिन्तन के पीछे ऐसा कुछ नहीं था। इधर रूस और चीन में और दूसरे मार्क्सवादी देशों में इस वाद के पतन को दिखा कर लोग कहते हैं कि इससे उस विचार का थोथापन सिद्ध है। किन्तु तब हम भूल जाते हैं कि मार्क्सवाद का कितने ही देशों में प्रयोग तो हुआ? गाँधीवाद के प्रयोग का तो कहीं उपोद्घात भी नहीं देखा गया। अब, विचारणीय है कि गाँधीजी को यदि बृहद् यंत्र स्वीकार हैं तो मनुष्य की उस प्रकृति की बात तो गई जो मनुष्य को पैरों से चलने और हाथों से करने तक सीमित रखती है। तब यह प्रश्न है कि यह राज्य कैसा होना चाहिए जो इन यंत्रों का स्वामित्व सँभाले? स्टालिन, हिटलर, क्लिंटन या नरसिंह राव के जैसा? निश्चय ही वे इसके

संचालक के रूप में अपने जैसे महात्माओं की कल्पना करते होंगे। किन्तु ऐसे महात्मा यह स्वामित्व सँभाल कैसे पायेंगे? लेनिन और स्टालिन को यह स्वामित्व सँभालने के लिए जो दमन-चक्र चलाना पड़ा उसे देखते हुए यह तो आसानी से कहा जा सकता है कि ऐसा राज्य पंचायती राज्य तो नहीं हो सकता। दूसरे, जैसा भी वह राज्य हो, उसकी बाग-डोर सही हाथों में ही रहे यह कैसे निश्चित किया जा सकता है?

ऐसी ही कठिनाई गाँधी जी की स्वराज्य की अवधारणा को लेकर है। उन्होंने 'हिन्दस्वराज्य' में कहा, और बिल्कुल ठीक ही कहा, कि ''स्वराज्य तो मन का होता है, बाहरी अधिकार-व्यवस्था का नहीं। इसलिए स्वराज्य के लिए सबसे पहली शर्त तो यह है कि हम अंग्रेज़ियत से मुक्त हों। यदि हम अंग्रेज़ को ही आदर्श मानें तो हम मुक्त कैसे हुए? वह तो हमारी आत्मा का ही स्वामी हो गया केवल शरीर का स्वामी ही नहीं रहा! तब फिर इससे क्या अन्तर पड़ता है कि दिल्ली की गद्दी पर कौन बैठा है?'' इसी से गाँधी जी ने भारतीय ग्रामों को स्वतंत्र कहा और उन्होंने उन्हीं में भावी भारत के लिए आशा देखी। किन्तु तब, भारत के स्वतंत्रता-आन्दोलन में उनके जो सहयोगी थे वे तो वही लोग थे जो कम या अधिक मात्रा में भूरे अंग्रेज़ थे। और भारत की राजनीतिक स्वतंत्रता के बाद गाँधी जी ने जिसे देश की बाग-डोर सौंपी वह अंग्रेज़ियत में सबसे अधिक सराबोर व्यक्ति था, जिसने न केवल भारत के लिए अंग्रेज़ से यंत्र-कौशल और प्रौद्योगिकी सीखना आवश्यक समझा बल्कि भारत को भाषा, भावना और विचार की शिक्षा भी उसी से दिलाना आवश्यक समझा। आज लोग गौरव से आधुनिक भारत का निर्माता उन्हीं नेहरू जी को ही कहते हैं, गाँधीजी को नहीं, और दुर्भाग्यवश यही सत्य भी है। गाँधी जी में पायी जाने वाली विसंगतियों में सबसे बड़ी विसंगति यही कही जा सकती है कि उन्होंने अपना उत्तराधिकारी नेहरू जी को बनाया।

निश्चय ही इस स्वातंत्र्योत्तर दासता के लिए नेहरू जी ही उत्तरदायी नहीं थे बल्कि विश्वविद्यालयों में शिक्षित वह सारा वर्ग भी था जिसे गाँधी जी ने 1909 में ही देश की मानसिक गुलामी के संरक्षक के रूप में पहचान लिया था। किन्तु यह भी निश्चित है कि यह वर्ग नेहरू जी के देश का प्रथम और दीर्घ अवधि तक प्रधानमंत्री हुए बिना इतना सफल नहीं हुआ होता और भारत की वह दुर्दशा नहीं हुई होती जो आज है।

आज जब हम गाँधी का 125वाँ जन्मदिन मनाने जा रहे हैं तब हम उनसे कम-से-कम एक हज़ार पच्चीस मील दूर हैं और नेहरू जी से एक हज़ार पच्चीस वर्ष आगे। यदि यह बात आँखों से देखनी हो तो हमारे दूरदर्शन पर देखी जा सकती है, अन्यथा तो यह सब जगह और सब तरह से व्याप्त है। आज हम होड़ लगाकर अमरीका की आर्थिक और सांस्कृतिक गुलामी में जा रहे हैं—उन्हीं की असंस्कृति आज हमारा सांस्कृतिक आदर्श है, उन्हीं का सिक्का हमारी दरिद्रता की अधिकता या न्यूनता का मानदंड है, उन्हीं के भृकुटि-संकेत हमारी आन्तर-बाह्य

राजनीति के निर्धारक हैं, और सबसे बड़ी विडंबना यह कि वे ही आज हमें कान पकड़ कर मानवाधिकारों की रक्षा का पाठ पढ़ा रहे हैं। और तब भी हम समझते हैं कि हम स्वतंत्र हैं। महात्मा गाँधी के 125वें जन्मदिन पर हम उन्हें इससे अधिक अच्छी श्रद्धांजलि और क्या दे सकते हैं?

किन्तु ऐसा क्यों है? क्या इसके लिए नेहरू जी ही उत्तरदायी हैं और क्या यह केवल हमारे देश में ही हो रहा है? हम देखते हैं कि पाश्चात्य यंत्रवाद, दानववाद और शिश्नवाद भारत में ही नहीं पनप रहा है बल्कि विश्व भर में छा रहा है। वास्तव में स्वयं यूरोप भी अपने को इस बदहवास दौड़ में सम्मिलित पा रहा है और अमरीका के सामने घुटने टेक चुका है। रूस में मार्क्सवाद के हटते ही वहाँ के लोगों ने तथाकथित स्वतंत्रता की साँस अमरीकी पत्रिकाओं के नंगे-चिकने चित्रों की भीड़ में ली है। यह चीन में हो रहा है और जापान में हो चुका है। आज यह अमरीकी शिश्नवाद-उपभोक्तावाद अमरीकी प्रभाव में रैश्नलिज्म (युक्तियुक्तवाद) का पर्याय बन रहा है और इसका उत्तर मुस्लिम धर्मांधता प्रस्तुत कर रही है। यह संसार भर के लिए दुर्भाग्य की बात है। इसका सही उत्तर रूस, जापान या दूसरे किसी देश के पास था भी नहीं, केवल भारत के पास ही था, और एक सीमा तक चीन के पास भी हो सकता था। किन्तु चीन में इसके कोई संकेत नहीं उभरे, बल्कि उसकी सैन्यवादी प्रवृत्तियों ने साम्यवाद से समझौता करके किसी उत्तर की सभी आशाएँ समाप्त कर दीं। भारत ने इस कलयुगीनता का स्पष्टतम उत्तर गाँधीवाद के रूप में प्रस्तुत किया था और रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद, श्री अरविन्द और अन्य अनेक मनीषियों के माध्यम से अपनी सनातन दृष्टि का नव सर्जित रूप निखारा था। किन्तु स्वतंत्रता के बाद हम क्रमशः उस दृष्टि को भुला रहे हैं। अब तो लगता है कि हम उसका शव-दाह भी कर चुके हैं।

* * *

किन्तु यहाँ यह विचारणीय है कि क्या विज्ञान, यांत्रिकी और प्रौद्योगिकी अनिवार्य रूप से अवांछनीय हैं और यदि ये अनिवार्यतः अवांछनीय हैं तो भी क्या हम इनसे निजात पा सकते हैं? महात्मा गाँधी का उत्तर था कि ये अनिवार्य रूप से अवांछनीय नहीं हैं, अवांछनीय ये तब हो जाती हैं जब इनकी माया में मनुष्य की आत्मा भुला दी जाती है, जिस मनुष्य की सहायता के लिये ये जन्म लेती हैं। (पृ. 14-15) आगे सभ्यता के स्वरूप विषयक प्रश्न उठाकर वे उत्तर देते हैं कि 'यंत्र-कौशल में प्रगति को ही सभ्यता माना जाता है, किन्तु इसमें नीति या धर्म की कोई बात ही सम्मिलित नहीं की जाती। शरीर का सुख कैसे मिले, यही आज की सभ्यता ढूँढती है और यही देने की यह कोशिश करती है।' (पृ. 33-37)

इस पर बहुत सी आपत्तियाँ उठायी जा सकती हैं। यह कहा जा सकता है कि मनुष्य के कल्याण, व्यक्ति के अधिकार और कर्त्तव्य तथा न्याय आदि के सम्बन्ध में जो चेतना आज के इस विज्ञान, यांत्रिकी और प्रौद्योगिकी की पराकाष्ठा के युग में है वह पहले के युगों में कहीं देखने को नहीं मिलती, यद्यपि यह सदी है कि व्यवहार में अधिकारों का हनन, कर्त्तव्य की अवहेलना और अन्याय आज भी उतना ही होता है जितना पहले होता था। किन्तु महत्त्वपूर्ण यह है कि यह चेतना जितनी आज है उतनी पहले कभी नहीं थी और गाँधी जी इस चेतना के अभाव की बात ही कर

रहे हैं। वास्तव में गाँधी जी यंत्र के सम्बन्ध में इतना ही नहीं कह रहे हैं। वे वास्तव में बृहद् यंत्र को अवांछनीय और अशिव ही मानते हैं जो इस बात से स्पष्ट है कि वे यह प्रश्न उठा कर कि वैज्ञानिक चिकित्सा-प्रणाली के सम्बन्ध में उनका क्या मत है वे उत्तर देते हैं कि यह भी आसुरी ही है। इस चिकित्सा-प्रणाली के द्वारा रोग और मृत्यु से बचने के बजाय तो मर जाना ही श्रेयस्कर है ! क्यों ? इसका वे उत्तर देते हैं–

1. डॉक्टर को दूसरों की चमड़ी चोथने के बजाय उनकी आत्मा को छूना चाहिए और उसके बारे में शोध-खोज करके उन्हें तंदरुस्त बनाना चाहिए, और उसे समझना चाहिए कि :

2. अंग्रेज़ी फार्मेसियों में जो जीवों पर निर्दयता की जाती है वैसी निर्दयता से बनी दवाइयों से शरीर चंगा करने के बजाय बेहतर है कि शरीर रोगी रहे। (92)

यह अत्यन्त साहसपूर्ण मत की अत्यन्त साहसपूर्ण अभिव्यक्ति है। और द्रष्टव्य है कि गाँधी जी वही मत व्यक्त करते थे जिसे वे पहले अपने आचरण का अंग बना लेते थे। किन्तु यह अविचारणीय है कि क्या यह मत युक्तियुक्त भी है? इसकी युक्तता के प्रश्न पर यहाँ गहराई से विचार करना संभव नहीं है। किन्तु संक्षेप में इस पर कुछ विचार हम करना चाहेंगे।

शरीर का भिषग् होने की तुलना में आत्मा का भिषग् होना निश्चिय ही अधिक महत्त्वपूर्ण है और यह भी कहा जा सकता है कि शरीर के भिषग् को साथ ही आत्मा का भिषग् भी, कम-से-कम कुछ मात्रा में, होना चाहिए, जोकि यूरोपीय चिकित्सा-प्रणाली में नहीं है। किन्तु यूरोपीय दवाइयाँ जीवों पर निर्दयता के आधार पर बनती हैं और कि विषग् को चमड़ी चोथने के बजाय आत्मा को छूना चाहिए ये दोनों बातें युक्तियुक्त नहीं जान पड़तीं। सर्वप्रथम, बहुत महान आत्मावान् व्यक्ति भी शरीर से अस्वस्थ हो सकते हैं। उदाहरणतः रामकृष्ण परमहंस का देहांत कैंसर से हुआ था। दूसरे, यह भी सही नहीं है कि अंग्रेज़ी दवाइयाँ जीवों की हत्या या उन पर अत्याचार से ही बनती हैं। यह सही है कि इन दवाइयों की उपयुक्तता की जाँच के लिए पशुओं पर प्रयोग किये जाते हैं, किन्तु यदि ये प्रयोग दूसरे जीवों पर नहीं किये जाएँतो ये मनुष्यों पर करने पड़ेंगे। आयुर्वेद में ऐसे प्रयोग नहीं किये जाते थे, किन्तु तब वे परोक्षतः मनुष्यों पर होते थे। यह कहावत थी कि अच्छा वैद्य वह है जो सौ रोगी मार चुका हो। अब आज इस चिकित्सा-प्रणाली के परिणामस्वरूप प्रायः सब महामारियों का अंत हो चुका है, इसके कारण बहुत से भयानक और जटिल रोगों के निदान खोजे जा चुके हैं और शल्य-चिकित्सा ने अद्भुत प्रगति की है। यह सब प्रगति अत्यन्त विकसित यांत्रिकी के आधार पर हुई है। अब इसके सम्बन्ध में इस तरह के दो टूक कह देना कि इस चिकित्सा से मनुष्य-जीवन की रक्षा करने के बजाय उसे मर जाने देना ही श्रेष्ठकर है, सरल नहीं जान पड़ता।

किन्तु साथ ही यह भी सही है कि यांत्रिकी और प्रौद्योगिकी के इस अपार विकास ने जीवन को जटिल बना दिया है और मनुष्य की आसुरी वृत्तियों को मुखर और आसुरी शक्तियों को अत्यधिक प्रखर बना दिया है। इसका रूप कुछ ऐसा है कि 'अपराध रोकने की हमारी शक्ति बढ़ रही है किन्तु उसी अनुपात में अपराध करने की शक्ति भी बढ़ रही है।' इस समय अपराध रोकने

की सामर्थ्य अपराधियों की सामर्थ्य की तुलना में पिछले युगों की अपेक्षा अधिक है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, किन्तु यह अनुपात समान होने पर यह आपादित होता है कि इस समय अपराध कोटिशः बढ़ गया है। शायद यही रोगों के सम्बन्ध में भी सही है और यही निर्धनता के सम्बन्ध में सही है। सम्पन्नता और विपन्नता आवश्यकता की सापेक्ष भी होती हैं। जिसे दो धोतियों से अधिक कपड़े की आवश्यकता नहीं है वह उस व्यक्ति से अधिक सम्पन्न है जिसके पास 20 पोशाकें हैं और उसे और अधिक की आवश्यकता है। यह दूसरा व्यक्ति विपन्न ही नहीं है, कहीं गहरे में अस्वस्थ भी है, और आज हम यूरोप के नेतृत्व में इसी अस्वास्थ्यकर विपन्नता की ओर तेज़ी से बढ़ रहे हैं। प्रौद्योगिकी और यांत्रिकी ने मनुष्य की यह विपन्नता और अस्वास्थ्य असीमतः बढ़ा दिया है। महात्मा गाँधी ने यांत्रिकी को अपना सर्वस्व बना लेने वाली इस सभ्यता के रोग को बहुत पहले पहचान लिया था। निश्चय ही इसके विरुद्ध उनकी प्रतिक्रिया में कुछ अतिशयता थी, इससे उनके बताये उपचार भी वैसे युक्त नहीं थे, किन्तु संत्रासजनक परिस्थिति वह अवश्य थी और आज वह उससे भी कोटिशः अधिक है। यद्यपि उस उपचार की असफलता उसकी अयुक्तता की अकाट्य प्रमाण नहीं है, क्योंकि नैतिक संदर्भगत युक्त उपचार भी बहुत बार असफल रहते हैं और यह संदर्भ अपने आधार में नैतिक ही है, किन्तु तब भी असफलता युक्तता में संदेह के लिए अवसर तो उपस्थित करती ही है।

इस सब के ऊपर बात यह है कि महात्मा गाँधी एक अत्यधिक सबल और स्वस्थ व्यक्ति थे—शुद्ध संकल्प के बल से और आत्मा में अवस्थिति से युक्त। यह बल और स्वास्थ्य उन्होंने मनुष्य की आत्मोपलब्धि विषयक इस सनातन दृष्टि से तादात्म्य सिद्ध करने की अडिग साधना के द्वारा पाया था कि काम-क्रोधादि, अथवा असत्य, स्तेय और हिंसा आदि ही मनुष्य के वास्तविक रोग हैं। इन रोगों के रहते शारीरिक स्वास्थ्य निरर्थक है, बल्कि कहें अनर्थकारी है और यांत्रिकी-प्रौद्योगिकी की प्रतिष्ठा इन आध्यात्मिक रोगों में ही है। किन्तु तब यह विचित्र विडंबना है कि मानव-सभ्यता का आधार भी ये यांत्रिकी और प्रौद्योगिकी ही हैं और सभ्यता संस्कृति की और संस्कृति मानव-आत्मा की साधक और प्रापक होती है। किन्तु इस प्रकट सत्य के पीछे एक और गुह्य सत्य भी निहित है कि प्रायः ही सभ्यता अपने विकास के क्रम में अपनी संस्कृति खो बैठती है और इस प्रकार की अपनी आत्मा भी खो बैठती है। इसी विडंबना में और प्रकट तथा गुह्य के इस विरोध में ही कहीं शायद महात्मा गाँधी की युक्त दृष्टि की असफलता का रहस्य छिपा है।

पी-51, मधुवन पश्चिम
किसान मार्ग, टोंक रोड
जयपुर (राजस्थान)-302018

गाँधीजी की राष्ट्रभाषा दृष्टि

–विजय बहादुर सिंह

गाँधीजी की मातृभाषा गुजराती थी। स्कूल से सीखी हुई भाषा अंग्रेजी थी। कहते हैं गाँधी की अंग्रेजी इतनी ताकतवर और धारदार थी कि अंग्रेज गवर्नर और अफसर उनके प्रत्येक शब्द प्रयोग पर कई-कई बार सोचते थे कि लिखने वाले ने इन शब्दों में कितना क्या भरा होगा। इससे यह अनुभव तो किया ही जा सकता है कि भाषा-ज्ञान की दृष्टि से गाँधी कितने समर्थ थे। आज के हमारे अपने समाज में ऐसे लोगों का भी वर्ग-समूह है जिनकी कोई अपनी मातृभाषा या घरेलू जबान नहीं बची। उनको सिर्फ अंग्रेजी में महारत हासिल है या कहिए कामचलाऊ अंग्रेजी आती है। अपने इस अकेले भाषा-ज्ञान पर वे स्वयं को आधुनिक भारतीय समाज का विकसित, सभ्य और सबसे समर्थ व्यक्ति मानते हैं। न केवल मानते हैं बल्कि इसी आधार पर वे सभ्यता की इस आँधी में सबसे अधिक फायदे के पायदान पर बहता हुआ पाते हैं। प्रश्न यह कि ऐसे लोगों का सचमुच अपना क्या कोई देश और राष्ट्र है? उनकी निगाह में तो यह सवाल ही पागलपन से भरा हुआ है। जहाँ सारी दुनिया एक होकर खड़ी हो वहाँ देश और राष्ट्र का प्रश्न कहाँ आता है।

गाँधीजी की सबसे बड़ी दिक्कत और चिन्ता यह थी कि वे उस 'देश' को फिर से रचना चाहते थे जो सदियों से बिखरा और टूटा-टाटा-सा था। बन जाने पर इसी को वे राष्ट्र के रूप में देखना चाहते थे। वे मानसिक पिछड़ेपन के शिकार थे, प्रगति के विरोधी थे और भारतीय समाज का विकास नहीं देखना चाहते थे ऐसा चाहें तो बहुत लोग कह सकते हैं पर इस कहने में एकतरफापन और समझ का फेर कहीं ज्यादा है, देश और उसके लोगों की समझ और पहचान बेहद कम। आज के संसार में ऐसे लोगों का बोलबाला है इसलिए गाँधी इनके लिए गए-बीते दिनों के आदमी जैसे हो गए हैं। आश्चर्य फिर भी यह कि देश के जीवन में जब भी कोई छोटी-बड़ी विपत्ति आती है, संकट आ खड़ा होता है, भारत की विशाल आबादी जिस एक व्यक्तित्व को अपने लाइट हाऊस और मार्गदर्शक के रूप में देखता है, वह तो गाँधी ही हैं। इसका कारण यह कि गाँधी की चेतना की डोर देश की बुनियादी चेतना की डोर से एकाकार है।

आज इस पर सोचे जाने की जरूरत है कि आजादी के बाद इस देश के लोगों को आफत के समयों में बार-बार राम-कृष्ण की नहीं गाँधी की ही याद आती है। इसका एक कारण

यह भी कि गाँधी हमारी परम्परा के सबसे ताजे, भरोसेमंद और उज्ज्वल इतिहास-अध्याय हैं। लेकिन क्यों, किन कारणों के चलते? जवाब आएगा कि इस देश की आत्मा का पर्याय बन जाने के चलते।

इस बात को समझने के लिए गाँधी के भाषा-चिंतन जैसा प्रसंग बेहद कारगर होगा। इसलिए भी कि इस देश का सबसे दुखद और भयावह यथार्थ वह धार्मिक अलगाव और विद्वेष है जिसके चलते यह दो राष्ट्रों में बँट गया, सैकड़ों देशी रियासतें आ-आकर भारतीय राष्ट्र में मिली या मिलने को मजबूर हुईं (या की गई) फिर भी देश बँटा और उसका कारण धर्म बना। यानी दो कौमें जिनका धर्म अलग-अलग था। अन्य आधारों मसलन भाषाओं, जाति या प्रादेशिकता के नाम पर इस बँटवारे की माँग नहीं की गई। गाँधी इस भविष्य की दुर्घटना से परिचित थे या नहीं, इस पर फिलहाल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि वे दोनों धर्म-विश्वासों के लोगों की एकता के महान पक्षधर और पैरोकार थे। वे जानते थे कि अगर ये दोनों तनाव और मुठभेड़ की स्थिति में रहते रहे तो राष्ट्र क्या देश भी नहीं बनेगा। आज जैसी स्थिति है, उसे जानने वाले लोग समझते होंगे कि भारत के घाघ राजनीतिक दल इसी आधार पर अपनी ताकत पाते रहे हैं और राज किया है।

लोक-जीवन की घनिष्ठ एका और सामाजिक भरोसेमंदी को छिन्न-भिन्न कर इन सत्ताखोर दलों ने अपना जो इन्द्रजाल खड़ा किया है, उससे राष्ट्रीय जीवन के बुनियादी सवाल पीछे चले गए हैं। गाँधी इस तरह की सत्ता-राजनीति में भरोसा नहीं करते थे इसलिए तरह-तरह से यह कोशिश किया करते थे कि इन दोनों धार्मिक कौमों की दूरियाँ पाटी जाएँ, भय कम किए जाएँ और आपसी भरोसा बढ़ाया जाय। फिर उनका खूबसूरत-सा सपना यह था कि 1857 के आस-पास दोनों कौमों में जैसी सहज-स्वाभाविक एकता और भरोसेमंदी थी, वही बनी रहे और राष्ट्र आत्मनिर्माण की दिशा में निश्चिंत होकर आगे बढ़ सके।

गाँधी की भाषा-दृष्टि इसी परिस्थिति से उपजी थी। 'आत्मकथा' के भाग पाँच, अध्याय छत्तीस में गाँधी एक प्रसंग की याद करते हुए लिखते हैं– 'मुझे उर्दू-हिन्दी शब्द तो न सूझा। ऐसी खास मुसलमानों की सभा में युक्तिप्रधान भाषण करने का यह मेरा पहला अनुभव था। कलकत्ते में मुस्लिम-लीग में मैं बोला था सो चंद मिनटों के लिए, हृदय को स्पर्श वाला ही भाषण था। पर यहाँ मुझे विरुद्ध मतवाले समाज को समझाना था। पर मैंने संकोच छोड़ दिया था। दिल्ली के मुसलमानों के सामने मुझे शुद्ध उर्दू में लच्छेदार भाषण नहीं करना था, बल्कि अपना अभिप्राय मुझे टूटी-फूटी हिन्दी में समझा देना था। यह काम मैं मजे से कर पाया। हिन्दी-उर्दू ही राष्ट्रभाषा बन सकती है इसकी यह सभा प्रत्यक्ष प्रमाण थी। मैंने अंग्रेजी में भाषण दिया होता तो मेरी गाड़ी आगे नहीं सरकती और मौलाना साहब ने जो चुनौती दी थी उसे देने का मौका न आया होता और आता तो मुझे जवाब न सूझता।

उर्दू या गुजराती शब्द हाथ न लगने से मैं शरमाया, पर जवाब तो दिया ही। मुझे 'नान-को-आपरेशन' शब्द सूझा। मौलाना साहब जब भाषण कर रहे थे उस वक्त मेरे मन में यह भाव उठ रहा था कि वह स्वयं बहुत मामलों में जिस सरकार का साथ दे रहे हैं, उस सरकार के विरोध की बात करना बेकार हैं। मैंने सोचा कि जब हमें तलवार से विरोध नहीं करना है तो साथ न देना ही सच्चा विरोध होगा। और मैंने 'नान-को-आपरेशन' शब्द का प्रथम प्रयोग सभा में ही किया। अपने भाषण में उसके समर्थन में मैंने अपनी दलीलें दीं। उस समय इस शब्द में क्या-क्या समा सकता है इसकी कल्पना मुझे नहीं थी। इससे मैं ब्योरे में उतर न सका। मुझे तो इतना ही कहने की याद है—''मुसलमान भाइयों ने एक दूसरा भी महत्त्वपूर्ण निश्चय किया है। ईश्वर न करे पर शायद यदि सुलह की शर्ते उनके खिलाफ जाएँ तो वे सरकार की सहायता करना बंद कर देंगे।'' गाँधी आगे लिखते हैं, ''यह शब्द कुछ महीनों तक तो इस सभा में ही गड़ा रहा। एक महीने बाद अमृतसर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ तो वहाँ मैंने असहयोग के प्रस्ताव का समर्थन किया। उस वक्त मैं तो यही आशा रखता था कि हिन्दू-मुसलमानों के लिए असहयोग का अवसर न आयेगा।''

भाषा का प्रश्न गाँधी के लिए हमेशा इसी कौमियत के साथ न जुड़ा होता अगर वे यह मानकर चल रहे होते कि मुसलमान जाएँ तो जाएँ। वे चाहते थे कि अंग्रेजों के बाद यह देश वैसा बने जैसा मुसलमान और हिन्दू दोनों चाहते हैं। इसलिए वे उर्दू और हिन्दी की स्वतंत्रता और मेल-जोल, या कहें पारस्परिक झुकाव से विकसित हुई उस भाषा की बात करने लगे थे जिसमें भारतीय राष्ट्र और समाज के दोनों घटक अपनी बात कह सकें और अपनी भावनाओं को प्रतिबिम्बित होना अनुभव कर सकें। आत्मकथा के 'रंगरूट भरती' वाले अध्याय में वे लिखते हैं—''वाइसराय की तीव्र इच्छा थी कि मैं सिपाही देकर सरकार की मदद करने के प्रस्ताव का समर्थन करूँ। मैंने हिन्दी-हिन्दुस्तानी में बोलने की माँग की। वाइसराय ने उसे मंजूर किया पर साथ ही अंग्रेजी में भी बोलने को कहा। मुझे व्याख्यान तो देना ही नहीं था। मैं जो बोला वह इतना ही था, 'मुझे अपनी जिम्मेदारी का पूरा ख्याल है और उस जिम्मेदारी को समझते हुए भी मैं इस प्रस्ताव का समर्थन करता हूँ।'

''हिन्दुस्तानी में बोलने के लिए बहुतों ने मुझे धन्यवाद किया। वे कहते थे कि वाइसराय की सभा में इस जमाने में हिन्दुस्तानी बोलने को यह पहली मिसाल है।'' गाँधी यहीं रुकते नहीं। आगे की उनकी व्यथा, चिन्ता और सोच भी देखें—''धन्यवाद और पहला उदाहरण होने की बात मुझे चुभी। मैं शरमाया अपने ही देश में, देश से संबंध रखने वाले काम की सभा में देश की भाषा का बहिष्कार या उसकी अवगणना कितने दुःख की बात है। और मुझ जैसा कोई हिन्दुस्तानी में एक या दो जुमले बोल दे तो इसमें धन्यवाद किस बात का? यह प्रसंग हमारी गिरी हुई दशा की सूचना देता है।''

यहाँ यह भी समझने की बात है कि गाँधी का यह दिमाग क्या पहला भारतीय दिमाग था जो इस तरह सोच और देख रहा था? जवाब होगा—नहीं, तेरहवीं सदी में इसी दिमाग से अमीर खुसरो ने सोचा था जब वे अपनी फारसी पीछे कर उस देशभाषा की तरफ आए जिसके चलते आज वे हमारे बहुत बड़े सांस्कृतिक-व्यक्तित्व बने हुए हैं। अमीर खुसरो उस जमाने के बहुत बड़े और सुप्रतिष्ठित आमजनों में से थे। उन्हें पाँच या छह भाषाएँ आती थीं। फिर भी वे क्यों देशभाषा की ओर झुके और मुड़े तो जवाब होगा कि वे उस विशाल आम भारतीय समाज के भरोसे के आदमी के रूप में जीना चाहते थे जो कि सच हुआ। भारत के सांस्कृतिक इतिहास में यह उदाहरण गौतम बुद्ध और महावीर भी प्रस्तुत करते हैं। दोनों क्षत्रिय राजकुमार थे। संस्कृत की गहरी जानकारी रखते थे पर बातचीत पालि और प्राकृत में इसलिए की कि वृहत्तर समाज से जुड़े सकें। कवियों में दो और बड़े उदाहरण तुलसी और गालिब के हैं। एक के पास संस्कृत की अपार दक्षता थी, दूसरे के पास फारसी की। फिर भी ये अपरिचित ही रह जाते अगर जनभाषा अवधी और रेख़्ता (उर्दू) में काव्य-रचना न करते। अंग्रेजी-दाँ और अंग्रेजीपरस्त नेहरू को जब जनता से बातचीत करने की जरूरत महसूस होती वे भी हिन्दुस्तानी में आते।

गाँधी की भाषा-दृष्टि को इस बड़े सांस्कृतिक फलक पर देखने की जरूरत है। लिखने वालों ने यह ब्यौरा भी दिया है कि गाँधीजी के राष्ट्रभाषा संबंधी चिंतन को दो चरणों में बाँटकर देखने की जरूरत है। उनके अनुसार पहला चरण 'हिन्द स्वराज' अर्थात् 1909 से लेकर 1936-37 तक का है जिसमें गाँधी लगातार हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की बात करते रहे, लेकिन 1936 के बाद वे आश्चर्यजनक ढंग से हिन्दुस्तानी की वकालत करने लगे। 'हरिजन' के अक्टूबर 1936 के अंक में उन्होंने एक लेख लिखा—'हिन्दुस्तानी, हिन्दी और उर्दू' पर। अपने मत को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा— ''इस हिन्दुस्तानी के एक-एक शब्द के अनेक पर्याय होने चाहिए ताकि यह विभिन्न प्रांतीय भाषाओं से समृद्ध और विकासोन्मुख राष्ट्र की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। बंगालियों या दक्षिण भारत के लोगों के सामने बोली जाने वाली हिन्दुस्तानी में संभवतः संस्कृत से लिए गए शब्दों का अधिक प्रयोग होगा। वही भाषण जब पंजाब में दिया जाएगा तो उसमें अरबी-फारसी शब्दों की बहुलता होगी। यही बात उस श्रोता वर्ग के संदर्भ में लागू होगी जिसमें मुसलमानों की प्रमुखता हो क्योंकि वे संस्कृत से लिये हुए बहुत से शब्द नहीं समझ सकते।''

स्पष्ट ही गाँधी की यह दृष्टि जितनी विविधतापूर्ण थी, उतनी ही बहुआयामी भी। इस मार्फत वे उस अलगाववाद से भी लड़ना चाहते थे जो सिर उठा रहा था। उस नए राष्ट्र का नवनिर्माण भी करना चाहते थे जो उनके सपनों में था और भाषा उसमें अपनी भूमिका एक समन्वयकारी शक्ति के रूप में निभा सकती थी।

एम-29, निराला नगर
दुष्यन्त कुमार मार्ग, भोपाल

गाँधी और स्वच्छता

–विन्देश्वर पाठक

स्वच्छता का संबंध साफ-सफाई से है। यह आभ्यंतर और बाह्य दो प्रकार की होती है। आभ्यंतर स्वच्छता का संबंध व्यक्ति के आध्यात्मिक एवं मानसिक आचार-व्यवहार से है। बाह्य स्वच्छता घर-द्वार, पास-पड़ोस और पर्यावरण की सफाई है। आज यह व्यक्ति-स्तर पर, सामाजिक स्तर पर और राष्ट्र के स्तर पर व्यापक चर्चा और कार्य का विषय बन चुकी है। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के लिए भी स्वच्छता एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक मुद्दा था। उन्होंने किसी भी सभ्य और विकसित मानव-समाज के लिए, इसके उच्च मानदंड की आवश्यकता को समझा। यद्यपि बचपन में ही उन्होंने भारतीयों में स्वच्छता के प्रति उदासीनता की कमी को महसूस कर लिया था, पश्चात् उनमें यह समझ पश्चिमी समाज में उनके पारंपरिक मेलजोल और अनुभव से विकसित हुई। अपने दक्षिण अफ्रीका के प्रवास के दिनों से लेकर भारत आने तक और अपने पूरे जीवन-काल में निरंतर बिना थके वे स्वच्छता के प्रति लोगों को जागरूक करते रहे तथा उनसे साफ-सफाई रखने पर जोर देते रहे।

सन् 1895 में ब्रिटिश सरकार ने दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों और एशियाई व्यापारियों से उनके स्थानों को गंदा रखने के आधार पर भेदभाव किया था। एतद्र्थ महात्मा गाँधी ने भारतीय स्वतंत्रता-आंदोलन के दौरान इस विषय पर स्पष्टतः कहा था, 'स्वतंत्रता से अधिक महत्त्वपूर्ण स्वच्छता है।'

भारत में गाँधी जी ने गाँव की स्वच्छता के संदर्भ में सार्वजनिक रूप से पहला भाषण 14 फरवरी, 1916 में मिशनरी-सम्मेलन के दौरान दिया था। उन्होंने वहाँ कहा था–'देशी भाषाओं के माध्यम से शिक्षा की सभी शाखाओं में जो निर्देश दिए गए हैं, मैं स्पष्ट कहूँगा कि उन्हें आश्चर्यजनक रूप से समूह कहा जा सकता है... गाँव की स्वच्छता के सवाल को बहुत पहले हल कर दिया जाना चाहिए था।' (गाँधी वाङ्मय, भाग-13, पृष्ठ-222)

लोक-सेवक-संघ के संविधान-मसौदे में उन्होंने कार्यकर्ताओं के संबंध में जो लिखा था, वइ इस प्रकार है–'कार्यकर्ता को गाँव की स्वच्छता और सफाई के बारे में जागरूक करना चाहिए और गाँव में फैलनेवाली बीमारियों को रोकने के लिए सभी जरूरी कदम उठाने चाहिए।' (गाँधी वाङ्मय, भाग-90, पृष्ठ-528)

प्रांतीय कांग्रेस-कमेटी के लिए मसौदा (मॉडल नियमों) में उन्होंने पंचायत की भूमिका को रेखांकित किया और लिखा, 'गाँव में रहने वाले प्रत्येक बच्चे, पुरुष या स्त्री की प्राथमिक शिक्षा के लिए, घर-घर में चरखा पहुँचाने के लिए तथा संगठित रूप से सफाई और स्वच्छता के लिए पंचायत की जिम्मेदारी होनी चाहिए।' (गाँधी वाङ्मय, भाग-19, पृष्ठ-217)

गाँधी जी के समय तीर्थ-स्थल

गाँधी जी सन् 1915 में जब दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटे तो उन्होंने गोपालकृष्ण गोखले की सलाह पर भारत-यात्रा शुरू की इसी क्रम में वे पहले कविगुरु रवींद्रनाथ टैगोर से मिलने कोलकाता (कलकत्ता) गए और फिर मुंशीराम से मिलने हरिद्वार चले आए। गाँधी जी ने अपनी हस्तलिखित डायरी में कलकत्ता और हरिद्वार में मैला साफ करने के लिए गड्ढे खोदने और मल को स्वयं मिट्टी से ढकने का उल्लेख किया है। डायरी में उन्होंने लिखा है कि 'ऋषिकेश और लक्ष्मण झूले के प्राकृतिक दृश्य मुझे बहुत पसंद आए।... परंतु दूसरी ओर मनुष्य की कृति को वहाँ देख चित्त को शांति न मिली। हरिद्वार की तरह ऋषिकेश में भी लोग रास्तों को और गंगा के सुंदर किनारों को गंदा कर डालते थे। गंगा के पवित्र पानी को बिगाड़ते हुए उन्हें कुछ संकोच न होता था। लोग दिशा-जंगल जाने वाले आम जगह और रास्तों पर ही बैठ जाते थे, यह देखकर मेरे चित्त को बड़ी चोट पहुँची...।'

हरिद्वार-जैसे धर्म-स्थलों पर भौतिक और नैतिक गंदगी के बारे में गाँधी जी ने अपनी डायरी में लिखा था कि 'निस्संदेह यह सच है कि हरिद्वार और दूसरे प्रसिद्ध तीर्थस्थान एक समय वस्तुतः पवित्र थे।... लेकिन मुझे कबूल करना पड़ता है कि हिन्दू-धर्म के प्रति मेरे हृदय में गहरी श्रद्धा है और प्राचीन सभ्यता के लिए स्वाभाविक आदर होते हुए भी हरिद्वार में इच्छा रहने पर भी मनुष्यकृत ऐसी एक भी वस्तु नहीं देख सका, जो मुझे मुग्ध कर सकती।'

सन् 1917 में नील की खेती करने वाले किसानों की समस्याओं को सुलझाने के लिए गाँधी जी चंपारण गए थे। (10 अप्रैल, 1917 को बांकीपुर, पटना स्टेशन पर उतरे थे) जाँच-दल के रूप में तैनात एक गोपनीय पत्र में उन्होंने उस स्थिति में स्वच्छता की महत्ता को बताया। गाँधी जी चाहते थे कि अँगरेज-प्रशासन उनके कार्यकर्ताओं को स्वीकार करे, ताकि वे समाज में शिक्षा और सफाई के कार्यों को भी शुरू कर सकें। इस बारे में उन्होंने कहा था कि वे गाँवों में ही रहते हैं, इसलिए वे गाँव के लड़के और लड़कियों को सिखा सकते हैं और वे स्वच्छता के बारे में उन्हें जानकारी भी दे सकते हैं। (गाँधी वाङ्मय, भाग-13, पृष्ठ-393)

गाँधी जी रेलवे के तृतीय श्रेणी के डिब्बे में बैठकर पूरे देश की यात्रा करते थे। वे भारतीय रेलवे के तीसरी श्रेणी के डिब्बे की गंदगी से स्तब्ध और भयभीत थे। 25 सितम्बर, 1917 को सबका ध्यान आकृष्ट करते हुए उन्होंने लिखा, 'इस तरह की संकट की स्थिति में

तो यात्री-परिवहन को बंद कर देना चाहिए, लेकिन जिस तरह की गंदगी और स्थिति इन डिब्बों में है, उसे जारी नहीं रहने दिया जा सकता, क्योंकि वह हमारे स्वास्थ्य और नैतिकता को प्रभावित करती है। निश्चित तौर पर तीसरी श्रेणी के यात्री को जीवन की बुनियादी जरूरतें हासिल करने का अधिकार तो है ही। तीसरे दर्जे के यात्री की उपेक्षा कर हम लाखों लोगों को व्यवस्था, स्वच्छता, शालीन जीवन की शिक्षा देने, सादगी और स्वच्छता की आदतें विकसित करने का बेहतरीन मौका गँवा रहे हैं।' (गाँधी वाङ्मय, भाग-13, पृष्ठ-264, 550)

गाँधी जी ने धार्मिक स्थलों में फैली गंदगी की ओर भी ध्यान दिलाया था। 3 नवम्बर, 1917 को गुजरात-राजनीतिक सम्मेलन में उन्होंने कहा था, 'पवित्र तीर्थ-स्थान डाकोर यहाँ से बहुत दूर नहीं है। मैं वहाँ गया था। वहाँ की पवित्रता की कोई सीमा नहीं है। मैं स्वयं को वैष्णव-भक्त मानता हूँ, इसलिए मैं डाकोर जी की स्थिति की विशेष रूप से आलोचना कर सकता हूँ उस स्थान पर गंदगी की ऐसी स्थिति है कि स्वच्छ वातावरण में रहने वाला कोई व्यक्ति वहाँ 24 घंटे तक भी नहीं ठहर सकता। तीर्थ-यात्रियों ने वहाँ टैंकरों, और गलियों को प्रदूषित कर दिया है।'

(गाँधी वाङ्मय, भाग-14, पृष्ठ-57)

इसी तरह से 'यंग इंडिया' में 3 फरवरी, 1927 को उन्होंने बिहार के पवित्र शहर गया की गंदगी के बारे में भी लिखा और यह स्पष्ट किया कि उनकी हिन्दू आत्मा गया के गंदे नालों में फैली गंदगी और बदबू के खिलाफ बगावत करती है।

स्वच्छता और शौचालय के संबंध में गाँधी जी के विचार

महात्मा गाँधी कहा करते थे कि आरोग्य के लिए स्वच्छता जरूरी है, पर सफाई का मतलब नहाना भर नहीं है। नहाने का अर्थ है, शरीर का मैल साफ करके त्वचा के छिद्रों को खोलना। इसमें बच्चों और बड़ों दोनों में लापरवाही दिखाई देती है। छोटे बच्चों में आमतौर पर होने वाली बीमारियाँ रोज आँख और नाक को साफ पानी तथा कपड़े से साफ न करने का नतीजा है। पहने हुए कपड़ों से ही नाक, हाथ वगैरह पोंछने और उनमें रोटियाँ या खाने की दूसरी चीजें बाँध लेना बड़ी गंदी आदत है। सार्वजनिक स्थानों में थूकना, मल-मूत्र त्याग करना और कूड़ा फेंकना अनेक बीमारियों को न्योता देने जैसा है।

ज्यादातर लोग शौचालय की सफाई का नाम सुनकर ही नाक-भौं सिकोड़ लेते हैं, लेकिन महात्मा गाँधी अपने शौचालय की सफाई खुद करते थे। रोजाना सुबह चार बजे उठकर वे सर्वप्रथम अपने आश्रम की सफाई किया करते थे। वर्धा-आश्रम में उन्होंने अपना शौचालय स्वयं बनाया था और इसे प्रतिदिन साफ करते थे। एक बार उन्होंने कहा था, 'जिस नगर में साफ संडास नहीं हो और सड़कें तथा गलियाँ चौबीसों घंटे साफ नहीं रहती हों, वहाँ की नगरपालिका

इस काबिल नहीं है कि उसे चलने दिया जाए। नगरपालिकाओं की सबसे बड़ी समस्या गंदगी है।'

गाँधी : स्वच्छता एवं अस्पृश्यता

सफाई को भगवान् की पूजा से भी अधिक महत्त्व देने वाले गाँधी जी ने अपने बचपन में ही भारतीयों में स्वच्छता के प्रति उदासीनता को महसूस कर लिया था। एक बार एक अँगरेज ने महात्मा गाँधी से पूछा, 'यदि आपको एक दिन के लिए भारत का बड़ा लाट (वायसराय) बना दिया जाए तो आप क्या करेंगे?' गाँधी जी ने कहा, 'राजभवन के पास जो गंदी बस्ती है, मैं उसे साफ करूँगा।' अँगरेज ने फिर पूछा, 'मान लीजिए कि आपको एक और दिन उस पद पर रहने दिया जाए तब?' गाँधी जी ने फिर कहा, 'दूसरे दिन भी वही करूँगा। जब-तक आप लोग अपने हाथ में झाडू और बाल्टी नहीं लेंगे, तब-तक आप अपने नगरों को साफ नहीं रख सकते।'

गाँधी जी को अस्पृश्यता से घृणा थी। उन्होंने भारतीय समाज में सदियों से मौजूद अस्पृश्यता की कुरीति और व्याप्त जाति-प्रथा का विरोध किया। उस वक्त सफाई करने वाले जाति के लोगों को गाँवों से बाहर रखा जाता था। उनकी बस्तियाँ बहुत ही खराब, मलिन और गंदगी से भरी हुई थीं। समाज में हेय समझे जाने वाले वे लोग गरीबी और शिक्षा की कमी की वजह से ऐसी बुरी स्थिति में रहते थे। गाँधी जी उन मलिन बस्तियों में गए। वहाँ के अस्पृश्य समझे जाने वाले लोगों को गले लगाया और अपने साथ गए अन्य नेताओं तथा कार्यकर्ताओं को भी वैसा करने के लिए कहा। गाँधी जी चाहते थे कि इन लोगों की स्थिति सुधरे और वे भी समाज की मुख्यधारा में शामिल हों। उन्होंने पूरे भारत में छात्रों सहित सभी में ऐसी मलिन बस्तियों के लोगों की मदद करने के लिए कहा।

भारत लौटने के बाद गाँधी जी ने कलकत्ता के कांग्रेस-अधिवेशन में भाग लिया। वहाँ की भयानक गंदगी देखकर वे अचंभित हो गए। कुछ प्रतिनिधियों ने अपने कमरे के सामने के बरामदे को शौचालय-जैसा बना रखा था। जब गाँधी जी ने इसके बारे में पूछा तो प्रतिनिधियों ने कहा कि यह साफ करना उनका कार्य नहीं, बल्कि सफाईकर्मी का है। इसके बाद गाँधी जी ने जो किया, वह अप्रत्याशित था। उन्होंने एक झाडू ली और पूरी गंदगी साफ कर डाली। सारे लोग दंग रह गए।

वर्षों बाद कांग्रेस के स्वयंसेवकों ने सफाई के लिए दस्ते बनाने शुरू किए। उसमें अनेक ब्राह्मण भी शामिल हुए। जब गुजरात के हरिपुरा में कांग्रेस का अधिवेशन होना था, उस दौरान दो हजार से अधिक शिक्षकों तथा छात्रों को सफाई-कार्य के लिए प्रशिक्षण दिया गया।

बचपन से बालक मोहनदास के मन में अपनी माँ के प्रति अगाध स्नेह-सम्मान था, किन्तु उन्होंने छोटी आयु में एक बार उनकी उस बात का विरोध किया, जब माँ ने सफाई करने वाले कर्मचारी को न छूने और उससे दूर रहने के लिए कहा था।

एक बार की बात है, जब मोहनदास करमचंद गाँधी 12 वर्ष के थे तो उनका सामना ऐसी स्थिति से हुआ, जिसने उनकी आँखें खोल दीं। उनके नगर में ऊका नाम का सफाईकर्मी स्कैवेजिंग का कार्य करता था। उनका स्पर्श ऊका से हो गया। इस पर उनकी अत्यंत धार्मिक माँ पुतलीबाई बहुत क्रोधित हुईं और उन्होंने बालक मोहनदास को कई बार नहलाया। गाँधी जी माँ के अत्यंत आज्ञाकारी थे, पर यह बात वे सहन नहीं कर सके। उन्होंने माँ से कहा, 'ऊका गंदगी की सफाई कर हमारी सेवा करता है, उसके छूने से मैं कैसे अपवित्र हो सकता हूँ? मैं आपकी अवज्ञा नहीं करूँगा, मगर 'रामायण' में बताया गया है कि राम ने गुहा नाम के चांडाल (अस्पृश्य मानी जाने वाली जाति) को अपने गले लगाया था। 'रामायण' हमें भ्रमित नहीं कर सकती है।' माँ पुतलीबाई कोई जवाब नहीं दे सकीं।

20 वर्ष की आयु के बाद जब गाँधी जी दक्षिण अफ्रीका गए तो वहाँ उनको बहुत सारी वास्तविकताओं से परिचित होना पड़ा। उन्होंने बहुत कुछ सीखा। ऐसी ही उनकी एक सीख स्कैवेंजिंग की थी। वहाँ उनके मित्र उन्हें 'महान् स्कैवेंजर' कहा करते थे। इस पर गाँधी कहते थे, 'हर किसी को अपना स्कैवेंजर होना चाहिए।' उन्होंने अपनी पत्नी कस्तूरबा को भी स्वयं अपना स्कैवेंजर बनने को कहा।

दक्षिण अफ्रीका के 'फीनिक्स आश्रम' के सहवासियों को अपना शौचालय स्वयं साफ करना होता था। उन्हें दृढ़ विश्वास था कि स्वच्छता और सफाई प्रत्येक व्यक्ति का काम है। वह हाथ से मैला साफ कर उसे सिर पर ढोने और किसी एक जाति के लोगों द्वारा ही सफाई करने की प्रथा को समाप्त करना चाहते थे।

गाँधी जी ने भारतीय समाज में सफाई करने और मैला ढोनेवालों द्वारा किऐ जाने वाले अमानवीय कार्य पर तीखी टिप्पणी की, उन्होंने कहा, 'हरिजनों में गरीब सफाई करने वाला या 'भंगी' समाज में सबसे नीचे खड़ा है, जबकि वह सबसे महत्त्वपूर्ण है। अपरिहार्य होने के नाते समाज में उसका सम्मान होना चाहिए। 'भंगी', जो समाज की गंदगी साफ करता है, उसका स्थान माँ की तरह होता है। जो काम एक भंगी दूसरे लोगों की गंदगी साफ करने के लिए करता है, वह काम अगर अन्य लोग भी करते तो यह बुराई कब की समाप्त हो जाती।' (गाँधी वाङ्मय, भाग-54, पृष्ठ-109)

('भंगी' शब्द का प्रयोग सांविधानिक रूप से प्रतिबंधित है।)

देश में तथाकथित स्कैवेंजरों और अस्पृश्यों की सामाजिक स्थिति को देखकर कदाचित् महात्मा गाँधी ने कहा था, 'शायद मेरा पुनर्जन्म नहीं हो, किन्तु यदि ऐसा होता है, तब मेरी इच्छा है कि मेरा जन्म स्कैवेंजरों के परिवार में हो, जिससे मैं सर पर मैला ढोने के अमानवीय, स्वास्थ्य के लिए हानिकारक तथा घृणित कार्य से उन्हें मुक्ति दिला सकूँ।'

स्वच्छता और अस्पृश्यता पर गाँधी जी के विचार अत्यंत तीक्ष्ण थे। उनके आश्रम में हर किसी को शौचालय की सफाई करनी होती थी। इनमें केवल भारत के ही नहीं, विदेश से

आने वाले अतिथि भी शामिल थे। इन्हीं में एक अमेरिकी युवती सुश्री नीला क्रैम कुक भी थी, जो एक लेखक की पुत्री थी। वह भारत की सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन करने यहाँ आई थी। उसने वर्धा और साबरमती के आश्रमों में कुछ समय बिताया। वहाँ वह स्वयं शौचालय की सफाई करती थी। जब वह लौटकर अपने देश गई तो उसने अपने इन अनुभवों पर प्रेरक एवं मार्मिक लेख लिखे। ऐसी ही एक दूसरी महिला मैडलीन स्लेड थी, जो ब्रितानी नौसेना के एक एडमिरल की पुत्री थी। वह गाँधी जी से इतना प्रभावित हुई कि इंग्लैंड छोड़कर भारत आ गई और गाँधी जी के आश्रम में रहने लगी। वह आश्रम में शौचालय का चैंबर पॉट खुद साफ करती थी। गाँधी जी ने उसे 'मीराबेन' का नाम दिया।

गाँधी और स्वच्छता-शिक्षा

सन् 1901 में गाँधी जी ने कांग्रेस के कलकत्ता-अधिवेशन में स्वयं अपना मैला साफ करने की पहल की थी। सन् 1918 में जब उन्होंने साबरमती आश्रम शुरू किया तो उसमें पेशेवर सफाईकर्मी लगाने की बजाय आश्रमवासियों को अपना मैला साफ करने का नियम बनाया। कई लोगों ने गाँधी जी को पत्र लिखकर आश्रम में उनके साथ रहने की इच्छा जाहिर की थी! इस बारे में उनकी पहली शर्त होती थी कि आश्रम में रहने वालों को आश्रम की सफाई का काम करना होगा, जिसमें शौच का वैज्ञानिक ढंग से निस्तारण करना भी शामिल है।

गाँधी जी का कहना था कि हमें पश्चिमी देशों में सफाई रखने के तरीकों को सीखना चाहिए और उनका उसी तरह पालन करना चाहिए। 21 दिसम्बर, 1924 को बेलगाँव में अपने नागरिक-अभिनंदन-समारोह में उन्होंने कहा था, 'हमें पश्चिम में नगरपालिकाओं द्वारा की जाने वाली सफाई-व्यवस्था से सीख लेनी चाहिए... पश्चिमी देशों ने कॉर्पोरेट स्वच्छता और सफाई-विज्ञान किस तरह विकसित किया है, उससे हमें काफी कुछ सीखना चाहिए... पीने के पानी के स्रोतों की उपेक्षा-जैसे अपराध को रोकना होगा...। (गाँधी वाङ्मय, भाग-25, पृष्ठ-461)

गाँधी जी ने स्कूली और उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रमों में स्वच्छता को तुरंत शामिल करने की आवश्यकता पर जोर दिया था। 20 मार्च, 1961 को गुरुकुल काँगड़ी में दिए गए भाषण में उन्होंने कहा था, 'गुरुकुल के बच्चों के लिए स्वच्छता और सफाई के नियमों के ज्ञान के साथ ही उनका पालन करना भी प्रशिक्षण का एक अभिन्न हिस्सा होना चाहिए... इन अदम्य स्वच्छता-निरीक्षकों ने हमें लगातार चेतावनी दी कि स्वच्छता के संबंध में सबकुछ ठीक नहीं है. .. मुझे लग रहा है कि स्वच्छता पर आगंतुकों के लिए वार्षिक व्यावहारिक सबक देने के सुनहरे मौके को हमने खो दिया।' (गाँधी वाङ्मय, भाग-13, पृष्ठ-264)

सन् 1920 में गाँधी जी ने गुजरात विद्यापीठ की स्थापना की। यह विद्यापीठ आश्रम की जीवन-पद्धति पर आधारित था, इसलिए यहाँ, शिक्षकों, छात्रों और अन्य स्वयंसेवकों तथा कार्यकर्ताओं को प्रारंभ से ही स्वच्छता के कार्य में लगाया जाता था। यहाँ के रिहायशी क्वार्टरों,

गलियों, कार्यालयों, कार्य-स्थलों और परिसरों की सफाई दिनचर्या का हिस्सा था। गाँधी जी यहाँ आने वाले हर नए व्यक्ति को इस संबंध में विशेष रूप से बताते थे।

उन्होंने स्वच्छता के लिए शिक्षा के पक्ष में स्पष्ट रुख ले लिया था। इस संदर्भ में सन् 1933 में उन्होंने लिखा, 'शिक्षा देने के लिए तीन आर (Read, Write and Arithmetic) का ही ज्ञान होना काफी नहीं है। शिष्टाचार और स्वच्छता तीनों आर की शिक्षा से पहले अपरिहार्य हैं।' (गाँधी वाङ्मय, भाग-56, पृष्ठ-91)

संक्षेप में कहें तो गाँधी का जीवन राजनीतिक गतिविधियों के तूफान में था, मगर उन्होंने सामाजिक परिवर्तन के एजेंडे को कभी भी अपने ध्यान से ओझल नहीं होने दिया। उनके लिए राष्ट्रीय स्वतंत्रता-प्राप्त करना मात्र आधी कहानी थी। वे इसके साथ-साथ जाति और पेशे पर आधारित संस्थागत सामाजिक विभेद से कलुषित व्यवस्था को सुधारना चाहते थे। उन्हें अस्पृश्यता में एक ऐसा भयानक 'न्यूरो-सोशल ट्यूमर' दिखता था, जो मानव-सभ्यता के जीवन-तत्त्वों का नाश कर सकता है। महात्मा गाँधी के लिए स्वच्छता-व्यवस्था और अस्पृश्यता-उन्मूलन एक समग्र मूल्य, सुचिंतित रणनीति और जीवन-भर चलने वाले मिशन थे।

संस्थापक
सुलभ स्वच्छता
सामाजिक सुधार एवं दूसरों की सहायता आंदोलन

गाँधी और अहिंसा

–अनिल दत्त मिश्र

गाँधी जी की मूल परिकल्पना में अहिंसा का स्थान सर्वोपरि है। एक व्यावहारिक आदर्शवादी की भाँति गाँधी जी ने हमेशा सत्य एवं अहिंसा की बात की। गाँधी जी की अहिंसा के सिद्धांत एवं उसके प्रयोग की जितनी आवश्यकता उनके जीवित रहते थी, आज उससे ज्यादा महसूस की जा रही है।

सत्य और अहिंसा

सत्य और अहिंसा एक-दूसरे के पूरक हैं तथा दोनों एक-दूसरे का अर्थ स्पष्ट करते हैं। गाँधी ने हमेशा अहिंसा के मूर्त रूप को प्रस्तुत किया।

गाँधी जी का संपूर्ण जीवन समझौतों और समायोजनों का समन्वय था, परन्तु उन्होंने अपनी मौलिकता से कभी समझौता नहीं किया। मानवीय अवधारणाएँ, जो कि मानवीय संवेदनाओं से किसी भी स्तर पर कमतर नहीं हैं, हमेशा से द्वंद्व के इर्द-गिर्द ही घूमती रही हैं, फिर वह द्वंद्व चाहे अच्छाई-बुराई का हो या ठंडे-गरम का। हिंसा और अहिंसा भी इसका कोई अपवाद नहीं है। रक्षात्मक शुद्ध हिंसा की ही तरह शुद्ध अहिंसा भी मानव का अस्तित्व हो सकता है, विरोधी की तरह नहीं।

युद्ध एवं शांति तथा द्वंद्व एवं मिलन मानवीय सामाजिक, राजनीतिक तथा मनोवैज्ञानिक विकास-प्रक्रिया के दो अभिन्न अंग हैं। क्रमिक विकास युद्ध से शांति की ओर गमन है, यह आम अवधारणा बिलकुल तथ्यों से परे और भ्रामक है। मानवीय विकास-क्रम एक प्रकार की शांति एवं युद्ध से दूसरे प्रकार की शांति एवं युद्ध की तलाश है। यह सापेक्ष है, न कि संपूर्ण विकास-क्रम।

गाँधी की अहिंसा की अवधारणा

एक नेता एवं विचारक के रूप में गाँधी जी की महानता इस बात में निहित थी कि उन्होंने अहिंसा के व्यक्तिपरक संदेश को जन-आंदोलन की सफल तकनीक में परिवर्तित कर दिया। बुद्ध, महावीर, नागसेन और शांतिदेव ने अहिंसा को व्यक्तिगत क्रिया एवं प्रेरणा से जोड़ा, लेकिन

गाँधी जी ने इसे एक सामाजिक एवं राजनीतिक तकनीक में तब्दील कर दिया। उनके विचारानुसार राजनीति में सुधार का सर्वोत्तम साधन अहिंसा ही हो सकता है।

हिंसा की अभिव्यक्ति व्यक्तिगत एवं संस्थागत दोनों स्तरों पर होती है। बुरे विचार, बदले की भावना, ईर्ष्या, कटुता, निष्ठुरता तथा यहाँ तक कि बेकार पदार्थों को अनावश्यक रूप से इकट्ठा करना भी व्यक्तिगत हिंसा की श्रेणी में आता है। इसी प्रकार गाँधी जी ने व्यापक अर्थ प्रदान करते हुए हिंसा की श्रेणी में झूठ, छल, कपट, धोखा एवं कुतर्क को भी समेटा। शारीरिक दंड, कैद, मृत्यु-दंड तथा युद्ध सरकार के स्तर पर की गई हिंसा के उदाहरण हैं। आर्थिक शोषण तथा अत्याचार भी हिंसा के विविध रूप हैं। अत्यधिक नकल एवं प्रतिस्पर्धा भी हिंसा के कारक हो सकते हैं। अहिंसा अनिवार्य तथा व्यापक रूप से हिंसा के सभी रूपों का सभी स्तरों पर पूर्ण निषेध है।

अहिंसा दूसरों को कष्ट, हानि या चोट पहुँचाने से बचना मात्र नहीं है, वरन् यह सकारात्मक आत्म-बलिदान एवं रचनात्मक दुःख-भोग के प्राचीन सिद्धांतों को भी अभिव्यक्त करती है। गाँधी जी ने इसे पूर्ण निस्स्वार्थ तथा वैश्विक प्रेम के रूप में रूपायित किया है। अहिंसा के अंतिम लक्ष्य में तथाकथित दुश्मनों या विरोधियों का प्रेमपूर्वक अंगीकार भी शामिल है। सन् 1930 में गाँधी जी ने कहा था— 'सर्प-दंश से पीड़ित दुश्मन की जान बचाने के लिए मैं उसके जहर को चूसना सहर्ष स्वीकार करूँगा। अतः अहिंसा सकारात्मक करुणा एवं प्रेम का पर्याय है।'

उन्होंने अपनी आत्मकथा में भी लिखा है— 'मुझे अपने अहं को निश्चित रूप से पूर्णतः तिरोहित कर देना चाहिए। अहिंसा विनम्रता की पराकाष्ठा है।'

गाँधी जी भी संपूर्ण विश्व को परिवार मानते हुए अहिंसा को वैश्विक शांति तथा एकता को सुनिश्चित करने वाली एक अनिवार्य एवं अपरिहार्य ताकत मानते थे। कुछ पाश्चात्य मानव-शास्त्रियों के अनुरूप उन्होंने कहा— 'हमारे प्राचीनतम पूर्वज नरभक्षी थे। उन्होंने पशुओं का शिकार कर अपनी क्षुधा शांत की। तीसरी अवस्था थी कृषि के विकास की, जिसने सभ्य एवं स्थायी जीवन की बुनियाद रखी। मानव ने गाँवों एवं नगरों को बसाया तथा परिवार, समाज और देश के सफर को तय किया। ये सब इस बात के द्योतक हैं कि इस दौरान हिंसा का क्रमिक क्षरण तथा अहिंसा का क्रमिक विकास हुआ। अगर ऐसा नहीं होता तो शायद मानव का भी कई अन्य विलुप्त प्राणियों की भाँति अस्तित्व समाप्त हो गया होता।'

गाँधी जी के अनुसार, अहिंसा का सामाजिक अनुप्रयोग आध्यात्मिक तत्त्व में मीमांसा की स्वीकृति तथा सामाजिक सद्भाव के अनवरत उन्नयन पर निर्भर करता है। गाँधी जी प्रत्येक मानव को ईश्वर की संतान मानते थे। इसलिए किसी भी जीवन को किसी भी रूप में सताने को वह उस व्यक्ति के दैवीय रूप का अपमान मानते थे।

सत्याग्रह और अहिंसा

सत्याग्रही से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह हिंसा के प्रत्येक रंग-ढंग का जवाब अहिंसा के रामबाण-रूपी अस्त्रों से दे, लेकिन सरकार एवं उग्रपंथी नेताओं की हिंसा का पूर्ण प्रतिरोध सत्याग्रही ही कर सकते हैं, यह धारणा गलत साबित हुई। अहिंसा प्रतिशोध का स्थानापन्न मात्र है तथा यह किसी भी रूप में अन्याय के आगे समर्पण नहीं है। लेकिन प्रतिरोध का मतलब विरोधियों से घृणा नहीं है। गाँधी जी ने इस बात को दृढ़तापूर्वक कहा, 'अत्याचारी एवं अनाचारी व्यवस्था का प्रतिरोध तो जायज है, लेकिन अत्याचारकर्ताओं का प्रतिरोध तथा उन पर प्रहार स्वयं को चोट पहुँचाने के समान है।'

इस तरह अहिंसा बुराई करने वालों के प्रति कोई हानि न पहुँचाने की प्रवृत्ति का सूचक है। इससे भी आगे जाकर गाँधी जी ने कहा कि विरोधियों या बुराई करने वालों के प्रति प्रेम एवं सद्‌भाव की भावना का विकास अहिंसा का महत्तर लक्ष्य है।

गाँधी तथा टॉल्सटॉय

गाँधी जीवन के अधिकार की सर्वोच्चता सिर्फ इसलिए नहीं मानते थे कि एक व्यक्ति के रूप में मानव के सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकार होते हैं, वरन् इसलिए कि वे मानव को एक पवित्र आत्मा मानते थे। इसलिए टॉल्सटॉय की तरह गाँधी जी भी प्रेम के नियम की निर्विकारिता तथा अपरिणयता को स्वीकार करते थे। अपने लिए उन्होंने अहिंसा के नियम को संपर्णू माना, यद्यपि इसकी प्राप्ति के लिए उन्हें लंबा संघर्ष करना पड़ा। वे इसे एक अमोघ अस्त्र मानते थे, जो किसी भी हथियार से अधिक शक्तिशाली था।

उन्होंने यह भी लिखा– 'जब दो देश युद्ध कर रहे हों तो अहिंसा के व्रतियों का यह कर्त्तव्य है कि युद्ध को रोकें तथा उसके हेतु प्रयास करें।'

लियो टॉल्सटॉय ने ईसाइयत के मार्ग और राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए हथियारों के जखीरों की आवश्यकता के बीच भी पूर्णतः वैश्विक निःशस्त्रीकरण का विचार सामने रखा, जो उनके वैश्विक भाईचारे के संदेश को पुष्ट करने वाला था। उन्होंने आशा प्रकट की कि वैश्विक राजनीति सलाहों एवं मध्यस्थकारों के इर्द-गिर्द घूमेगी, न कि सशस्त्र द्वंद्वों के साए के बीच।

हिंसा बनाम अहिंसा

गाँधी जी के अनुसार, अहिंसा की दृष्टि में युद्ध के सभी रूप अन्यायपूर्ण हैं, लेकिन आजादी के पश्चात् स्वतंत्रता-सेनानियों और रक्षकों को पहचानते हुए उन्हें नैतिक समर्थन देने की वकालत की।

कभी-कभी गाँधी जी की अहिंसा एवं उनके द्वारा कई युद्धों में भागीदारी के बीच के अंतर्द्वंद्व की बात भी उठती रहती है। सन् 1899 के बोअर युद्ध के समय उन्होंने 'एक स्वयंसेवी

एंबुलेंस कोरप्स बनाया था। सन् 1906 में जुलू विद्रोह के दौरान उन्होंने स्ट्रेचर ढोनेवाले बीस भारतीयों का एक समूह तैयार किया तो सन् 1914 में उन्होंने लंदन में रह रहे अधिकतर भारतीय छात्रों का एक स्वयंसेवी एंबुलेंस कोर बनाया था। सन् 1918 में उन्होंने ब्रिटिश पक्ष की तरफ से युद्ध करने के लिए भारतीय सैनिकों की भर्ती का उपाय कर लगभग अपनी हत्या ही कर डाली थी। जहाँ तिलक कुछ निश्चित शर्तों के अधीन ही मित्र-राष्ट्रों की मदद करने के इच्छुक थे, वहीं गाँधी जी बिना शर्त सैनिक-समर्थन के पक्षधर थे। इसलिए यह प्रश्न उठना लाजमी है कि जब गाँधी जी अहिंसा के व्रती थे तो क्या उन्होंने युद्ध में किसी भी तरीके से भागीदारी नहीं निभाई? जब सन् 1918 में वे भर्ती-प्रक्रिया में सहयोग कर रहे थे तो क्या वे जर्मन-सैनिकों की हत्या की योजना में सहयोग नहीं कर रहे थे? लेकिन गाँधी जी ने इसका बचाव यह कहकर किया कि जब तक हम ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन हैं, तब तक संकट के समय उसकी मदद करना हमारा कर्त्तव्य है।

बुद्ध की तरह गाँधी जी का विचार था कि वैर से वैर का उन्मूलन नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह एक ऐसा दुष्चक्र है, जो विरोधियों में प्रतिशोध की भावना को जगाए रखता है तथा उसका संपोषण करता है। इसलिए इसका सर्वोत्तम तरीका विरोधियों का हृदय-परिवर्तन ही हो सकता है।

राजनीति में गाँधीवादी दर्शन इस बात में निहित है कि सत्य, प्रेम एवं अहिंसा के सिद्धांतों पर दृढ़ रहते हुए व्यक्तिगत, सामुदायिक, राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय किसी भी तरह के द्वंद्व का सर्व स्वीकार्य एवं सर्वोत्कृष्ट समाधान किया जा सकता है।

गाँधी जी अहिंसा के साथ-साथ निर्भयता के आदर्श का भी पालन करने में विश्वास करते थे। वे कहा करते थे, 'निर्भयता की उपलब्धि के लिए व्यक्ति में चरित्र की पूर्णता तथा ईश्वर में अगाध श्रद्धा नितांत जरूरी है। सत्य एवं ईश्वर में विश्वास करने वाला आत्मा की दिव्यता में श्रद्धा रखता है तथा सभी तरह के अन्याय का दृढ़तापूर्वक प्रतिकार करने के लिए अपनी जान की बाजी तक लगा देता है।'

गाँधी जी अहिंसा के पक्के अनुयायी थे, लेकिन उन्होंने स्पष्टतः इस बात को रेखांकित किया कि कायरता एवं हिंसा में अगर उन्हें एक का चयन करना पड़े तो वे हिंसा को चुनेंगे। वे इस बात को लगातार कहते रहे कि राष्ट्रीय शब्दकोश में कायरता या भय का कोई स्थान नहीं होना चाहिए। उन्होंने लिखा है— 'सत्य यह है कि कायरता अपने-आपमें एक सूक्ष्म प्रकार की हिंसा है, अतः अधिक खतरनाक है तथा इसका उन्मूलन शारीरिक हिंसा से भी अधिक दुष्कर है। एक कायर कभी अपनी जिंदगी दाँव पर नहीं लगा सकता, मारने वाला प्रायः अपनी जिंदगी दाँव पर लगाता है। एक अहिंसक व्यक्ति का जीवन हमेशा उसके अपने हाथों में होता है, क्योंकि वह जानता है कि आत्मा कभी नहीं मरती। शरीर का लगातार क्षरण होता है, लेकिन आत्मा अजर-अमर होती है। जितना अधिक मानव अपनी जिंदगी देता है, उतना ही अधिक वह

उसे सुरक्षित करता है। इसलिए अहिंसा के लिए युद्धरत सैनिकों से भी अधिक साहस की जरूरत होती है।' 'गीता' में सैनिक उसे कहा गया है, जो यह जानता है कि खतरों से भागना क्या होता है। इसलिए अहिंसा बहादुरी की पराकाष्ठा का प्रतीक है। गाँधी जी ने इस बात को रेखांकित किया कि कायरों को अहिंसा का उपदेश देना वैसा ही है, जैसा एक अंधे व्यक्ति को मनोरम दृश्यों को देखने के लिए प्रेरित करना।

एक आध्यात्मिक तथा नैतिक आदर्शवादी के रूप में गाँधी लोक-प्रशासन की अहिंसा पर आधारित नैतिकीकरण में विश्वास करते थे। वे आधुनिक राजनीतिक जीवन के ढाँचे में सुधार लाने को उत्सुक थे। यदि स्वराज की उपलब्धि अहिंसक तरीकों से की जा सकती है तो यह आवश्यक है कि स्वराज की राजनीति अहिंसा के सिद्धांतों पर आधारित हो। इसलिए उन्होंने लोक-प्रशासन में ईमानदारी, निष्ठा तथा परोपकारी उद्देश्यों की आवश्यकता पर बल दिया।

निष्कर्ष

अहिंसा की जितनी जरूरत आज के व्यक्ति, समाज और राष्ट्र को है, उतनी पहले कभी नहीं थी। वर्तमान में पूरे विश्व में तानाशाही के खिलाफ जनविद्रोह ने अहिंसा को पुनः स्थापित कर दिया है। गाँधी जी की अहिंसा न केवल भारत का मार्गदर्शन कर रही है, बल्कि संपूर्ण विश्व इस नीति को अपना रहा है। गाँधी जी की अहिंसा की प्रतिस्थापनाओं को वर्तमान समय में सुलभ के संस्थापक डॉ. विन्देश्वर पाठक ने मूर्त रूप दिया उन्होंने सुलभ के माध्यम से व्यक्ति, समाज और राष्ट्र में अहिंसात्मक समाजीकरण का एक नया प्रारूप दिया तथा उसे व्यवहार के धरातल पर कार्य करके यह सिद्ध कर दिया कि अहिंसा के माध्यम से भी सामाजिक परिवर्तन संभव है।

सम्पादक : 'सुलभ इंडिया'
गाँधीवादी विचारक एवं लेखक

महात्मा गाँधी की पत्रकारिता के मायने

–पंकज सिंह

''पत्रकारिता का ध्येय सेवा होना चाहिए। समाचारपत्रों के पास बड़ी भारी शक्ति है, लेकिन जिस प्रकार अनियंत्रित बाढ़ का पानी पूरी बस्तियों को डुबा देता है और फसलों को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार अनियंत्रित लेखनी की सेवा भी विनाशकारी होती है। यदि उसका नियंत्रण बाहर से किया जाए तो वह नियंत्रणहीनता से भी अधिक अनिष्टकर सिद्ध होता है। प्रेस का नियंत्रण तभी लाभकारी हो सकता है जब प्रेस उसे स्वयं अपने ऊपर लागू करे। 'अगर' यह तर्क सही है तो दुनिया के कितने पत्र इस कसौटी पर खरा उतरेंगे?''

–महात्मा गाँधी

महात्मा गाँधी ने भारतीय संस्कृति पर इतनी अधिक दिशाओं में प्रभाव डाला है कि उनके समस्त अवदान का सम्यक् मूल्य निर्धारित करना अभी किसी के लिए सम्भव नहीं दिखता। खान-पान, रहन-सहन, भाव-विचार, भाषा और शैली, परिच्छद और परिधान, दर्शन और सामाजिक व्यवहार एवं धर्म-कर्म, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता भारत में आज जो भी आचार या विचार प्रचलित हैं, उनमें से प्रत्येक पर कहीं-न-कहीं गाँधीजी की छाप है। यहाँ तक कि उनके आलोचकों और विरोधियों में भी ऐसे अनेक लोग हैं, जिनकी पोशाक नहीं तो खान-पान में विचार नहीं तो सामाजिक आचार में, महात्मा गाँधी का प्रभाव मौजूद है।[1] महात्मा गाँधी विशुद्ध राजनीतिक विचारक नहीं थे। उनके चिंतन के केंद्र में मनुष्य का सर्वांगीण विकास था। राजनीति को उन्होंने नैतिकता के एक साधन के रूप में देखा और उसी रूप में अपनाया। उनकी यह विशिष्टता ही उन्हें आधुनिक युग के तमाम विचारकों से अलग कर देती है। वे सच्चे कर्मयोगी थे। व्यावहारिक जीवन में जो समस्याएँ समय-समय पर उनके सामने आईं, उनका समाधान करते हुए आगे बढ़ते गए। महात्मा गाँधी का संपूर्ण जीवन सत्य और अहिंसा के प्रयोगों का जीवन था। उन्होंने स्वतत्रंता एवं स्वराज्य के संघर्ष में सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा, असहयोग तथा सर्वोदय के नैतिक हथियारों का प्रयोग करके अपने जीवन-दर्शन का प्रारूप प्रस्तुत किया। गाँधी के चिंतन और विचारों का संसार इतना बड़ा है कि भारत सरकार ने सौ खण्डों (संपूर्ण गाँधी वाङमय) में उसे प्रकाशित किया है। गाँधीजी में संवाद तथा संप्रेषण की अद्‌भुत कला थी और वे जान चुके थे कि देश-विदेश के करोड़ों पाठकों, चिंतकों एवं स्वतंत्रता प्रेमियों तक समाचार-पत्र के माध्यम

से ही पहुँचा जा सकता है। इसलिए गाँधीजी देश-विदेश के जिस भी भू-भाग में रहे, उन्होंने अपने कार्यक्रमों तथा विचारों को प्रसारित तथा प्रचारित करने के लिए सदैव ही समाचार-पत्रों का सहारा लिया। गाँधीजी समाचार-पत्रों के महत्त्व को जानते थे, तथा उनकी शक्ति को पहचानते थे, इसी कारण उन्होंने समाचार-पत्रों का संपादन-प्रकाशन किया तथा लगभग चार दशकों तक पत्रकार की भूमिका निभाई।

महात्मा गाँधी का पत्रकारिता से या यों कहें सार्वजनिक लेखन से सर्वप्रथम परिचय लंदन में हुआ जब वे बैरिस्टरी करने के लिए वहाँ गए थे। लंदन में उनके साथ रहने वाले मित्र जोशिया ओल्डफिल्ड ने उन्हें इस बात के लिए राजी किया कि वे 'द वेजिटेरियन' के लिए लेख लिखें। उस समय गाँधी ने *'द वेजिटेरियन'* नामक पत्रिका में बारह लेखों की शृंखला लिखकर पत्रकारिता में प्रवेश किया। *'द वेजिटेरियन'* का पहला लेख 7 फरवरी, 1891 में प्रकाशित हुआ। जब गाँधीजी ने अपना पहला लेख 'द वेजिटेरियन' के लिए लिखा था, तब उनकी उम्र 21 वर्ष 4 माह की थी। यह किसी भी युवा भारतीय के लिए उपलब्धि से कम नहीं था। प्रसिद्ध इतिहासकार एवं पर्यावरणविद् रामचंद्र गुहा लिखते हैं कि खासकर तब जबकि गाँधी ने पहली बार ग्यारह वर्ष की उम्र में अंग्रेजी सीखनी शुरु की थी और जिसका मैट्रिकुलेशन में बहुत औसत अंक रहा हो- गाँधी का लेखन आश्चर्यजनक रुप से साफ और अत्यंत परिपक्व है।[2] 'द वेजिटेरियन' में गाँधीजी द्वारा लिखे गए लेखों के विषय अत्यंत विविध थे। उन्होंने खासकर भारतीयों के खानपान, शाकाहार का महत्त्व, भारतीय शाकाहार यूरोपीय शाकाहार में भिन्नता, भारतीय व्यंजनों में मसालों के प्रयोग एवं उसके महत्त्व आदी विषयों पर रोचक ढंग से तथा विस्तार से लिखा। भारत में जातिप्रथा पर भी लिखा। भारतीय संस्कृति के विभिन्न पहलुओं पर कई उदाहरणों के माध्यम से समझाने का प्रयास किया। गाँधीजी ने भारतीय समाज में बालविवाह जैसे कुरुतियों तथा उसके दुष्परिणाम पर भी लेख लिखा। उनके द्वारा बालविवाह की आलोचना उनके निजी अनुभवों पर भी आधारित थी। गाँधीजी ने शराब के दुष्प्रभावों पर भी अपने मजबूत विचार रखे। शराब को गाँधीजी ने 'मानव जाति का दुश्मन' करार दिया और सभ्यता के लिए कलंक बताया। साथ ही साथ गाँधीजी ने इसे 'भारत में ब्रिटिश शासन का एक सबसे बड़ा अभिशाप भी बताया'। गाँधीजी द्वारा पहली बार 21 वर्ष की आयु में अपनी लेखनी के माध्यम से साम्राज्यवादी शासन की आलोचना (भारत में शराब की बिक्री और उपभोग बढ़ाने के लिए) भी कर दी।[3] गाँधीजी द्वारा अपनी बातों को अत्यंत सहज, सरल, निर्भीक तथा स्पष्ट तरीके से रखने का उदाहरण उनके प्रारंभिक लेखन में ही दिखाई पड़ता है।

महात्मा गाँधी 23 वर्ष की आयु में सन्– अप्रैल 1893, दक्षिण अफ्रीका गए थे। दादा अब्दुल्ला के मुकदमे की पैरवी के लिए 105 पौंड वार्षिक के वेतन पर दक्षिण अफ्रीका के लिए रवाना हुए। पत्रकारिता में गाँधीजी के योगदान की ऐतिहासिकता पर नजर डालें तो उनकी

पत्रकारिता की शुरुआत ही विरोध की निडर अभिव्यक्ति के तौर पर हुई थी जब पहली बार गाँधीजी दादा अब्दुल्ला के साथ डरबन की एक अदालत में गए तो वहाँ पर जज ने गाँधीजी को गुजराती पगड़ी उतारने के लिए कहा, उनके द्वारा पगड़ी नहीं उतारने पर जज ने उन्हें कोर्ट परिसर से बाहर जाने का आदेश दिया। अपने साथ हुए इस दुर्व्यवहार का विरोध करते हुए गाँधीजी ने डरबन के 'नेटाल एडवर्टाइजर' के सम्पादक को पत्र लिखकर अपना विरोध दर्ज किया। गाँधीजी ने लिखा है कि 'नेटाल एडवर्टाइजर' (26 मई, 1893) ने उनकी 'एक अवांछनीय अतिथि' ('अनवेलकम्ड विजिटर') के रूप में चर्चा की तो तीन-चार दिन के अंदर ही अनायास दक्षिण अफ्रीका में प्रसिद्धि पा गया।[4] अखबार को लिखे उस पत्र को गाँधीजी की पत्रकारिता का पहला कदम माना जा सकता है। ऐसी ही घटनाओं से गाँधीजी को समाचार-पत्र की आवश्यकता और उपयोगिता समझ में आ गई। दादा अब्दुल्ला के मुकदमे की पैरवी समाप्त होने पर उन्होंने भारत लौटने का मन बनाया तभी कुछ ऐसा संयोग हुआ कि भारतीय मताधिकार प्रतिबंधक कानून के विरूद्ध आंदोलन छेड़ने के कारण उन्हें दक्षिण अफ्रीका में रुकना पड़ा और जुलाई, 1914 में ही वे स्थाई रूप से दक्षिण अफ्रीका को छोड़कर भारत आ सके। गाँधीजी ने 22 अगस्त, 1894 में, 'नेटाल इंडियन कांग्रेस' की स्थापना की।[5] 'नेटाल इंडियन कांग्रेस' के अध्यक्ष अब्दुल्ला हाजी आदम बने और गाँधी अवैतनिक मंत्री। 'नेटाल इंडियन कांग्रेस' का उद्देश्य था— भारतीय एवं यूरोपीयों के बीच मेलजोल और एकता बढ़ाना, भारत की जनता को उपनिवेशों में रहनेवाली भारतीय जनता की जानकारी देना, गिरमिटिया भारतीयों की हालत की जाँच करना, उनके कष्टों को दूर करना तथा उनकी नैतिक, सामाजिक और राजनीतिक स्थिति में सुधार करना।[6] गाँधीजी के दक्षिण अफ्रीका पहुँचने पर 'नेटाल एडवर्टाइजर', 'नेटाल मर्क्युरी', 'नेटाल विटनेस', 'टाइम्स ऑफ नेटाल', 'केप टाइम्स', 'जोहानिसबर्ग टाइम्स' आदि अंग्रेजी समाचार-पत्रों में प्रकाशित विभिन्न टिप्पणियों तथा समाचारों से सामना हुआ और इससे उन्हें पर्याप्त ख्याति मिली।

गाँधी दक्षिण अफ्रीका में रहने वाले भारतीय प्रवासियों की समस्याओं के समाधान के लिए बराबर प्रयत्नशील रहे और उन्होंने 'इंडिया', 'एडवर्टाइजर', 'केप टाइम्स', 'टाइम्स ऑफ इंडिया', 'टाइम्स ऑफ नेटाल', 'नेटाल एडवर्टाइजर', 'नेटाल मर्क्युरी', 'नेटाल विटनेस', 'रैंड डेली मेल', 'स्टार' आदि समाचार-पत्रों का इसके लिए उपयोग किया। गाँधीजी ने स्वयं युद्ध-संवाददाता के रूप में बोअर-युद्ध के दौरान काम किया था। गाँधी ने अक्टूबर, 1901 में यह माना कि दक्षिण अफ्रीका में उनका काम खत्म हो गया है और स्वदेश लौटना है। गाँधी का कुछ स्थानों पर अभिनंदन हुआ और उन्होंने वहाँ मिले सभी उपहार एक बैंक में जमा करके एक ट्रस्ट को सौंप दिए। गाँधी ने यह वचन दिया कि यदि उनकी सेवाओं की आवश्यकता पड़े तो वे दक्षिण अफ्रीका लौट आएँगे। गाँधी मॉरिशस होते हुए भारत पहुँचे और 27 दिसंबर, 1901 को कलकत्ता में आयोजित कांग्रेस अधिवेशन में दक्षिण अफ्रीका संबंधी प्रस्ताव पेश किया। गाँधी ने राजकोट, बंबई में वकालत जमाने का प्रयत्न किया। परंतु इसी दौरान दक्षिण अफ्रीका वापस लौटने के लिए उन्हें तार मिला और वे 20 नवंबर, 1902 को दक्षिण अफ्रीका के लिए रवाना हुए। गाँधी डरबन

पहुँचे और उपनिवेश मंत्री चेंबरलेन से प्रतिनिधि मंडल के साथ मिले और दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों पर लादी गई वैधानिक निर्योग्यताओं को समाप्त करने का आग्रह किया।

गाँधीजी ने मनसुखलाल हीरालाल नजर तथा मदनजीत व्यावहारिक को समाचार पत्र निकालने के लिए प्रेरित किया और इस प्रकार 'इंडियन ओपिनियन' का पहला अंक 4 जून, 1903 (गाँधी ने 1904 की तिथि गलत दी है) को प्रकाशित हुआ।[7] गाँधीजी ने 'इंडियन ओपिनियन' को चार भाषाओं (हिन्दी, तमिल, गुजराती एवं अंग्रेजी) में प्रकाशित किया। दक्षिण अफ्रीका में भारतीय समाज को पहली बार अपना मुख-पत्र मिला। गाँधीजी का नाम संपादक के रूप में कभी नहीं छपा, किंतु वे ही इसके संपादक तथा सामग्री के लिए उत्तरदायी थे। उन्होंने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है कि *''मैं अखबार का संपादक नहीं था। फिर भी... उसमें प्रकाशित लेखों के लिए मैं ही जिम्मेदार था।... संपादन का सच्चा बोझ तो मुझ पर ही पड़ा।''*[8] यही कारण था कि 'इंडियन ओपिनियन' का शायद ही कोई ऐसा अंक हो, जिसमें दक्षिण अफ्रीका से 1914 में स्थायी रूप से जाने तक, गाँधीजी का कोई लेख न छपा हो।[9] 'इंडियन ओपिनियन' गाँधीजी के भारत आने के बाद भी निकलता रहा और गाँधीजी के पुत्र एवं पुत्रवधू सन् 1958 तक इसे निकालते रहे। अखबार क्यों जरुरी है यह बात स्पष्ट करने के लिए उन्होंने 'दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह' नामक पुस्तक में लिखा है कि *''मेरा ख्याल है कि ऐसी कोई भी लड़ाई जिसका आधार आत्मबल हो, अखबार की सहायता के बिना नहीं चलायी जा सकती। अगर मैंने अखबार निकालकर दक्षिण अफ्रीका में बसी हुई भारतीय जमात को उसकी स्थिति न समझायी होती और सारी दुनिया में फैले भारतीयों को दक्षिण अफ्रीका में क्या कुछ हो रहा है, इससे 'इंडियन ओपिनियन' के सहारे अवगत न रखा होता तो मैं अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकता था। इस तरह मेरा भरोसा हो गया है कि, अहिंसक उपायों से सत्य की विजय के लिए अखबार एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य साधन है।''*[10]

गाँधीजी के उपरोक्त विचार को उर्दू के कवि अकबर के शब्दों में इस प्रकार से समझ सकते हैं—

खींचो न कमानों को, न तलवार निकालो,
जब तोप मुकाबिल हो तो अखबार निकालो।।

पत्रकारिता का गाँधीजी ने अध्ययन नहीं किया था और न वे प्रोफेशनल पत्रकार ही थे, किंतु उन्होंने पत्रकारिता के वैश्विक परिदृश्य को गंभीरता से देखा-परखा था। उन्होंने जब 'इंडियन ओपिनियन' आरंभ किया तो उनके सामने भारतीय समाज को न्याय दिलाने और गोरों एवं भारतीयों के बीच प्रेम तथा सद्भाव उत्पन्न करने का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य था। इस कारण पत्रकारिता उनके मिशन एवं सेवा का आधार बनी। गाँधी ने पत्रकारिता को व्यापार बनाना अस्वीकार किया और जनता को स्वामित्व सौंपा। इसी कारण गाँधी ने 'इंडियन ओपिनियन' को ट्रस्ट को सौंप दिया जैसे व्यापारिक विज्ञापनों का बहिष्कार, कर्मचारियों को निम्नतम वेतन और ग्राहकों की संख्या घटने पर समाचार-पत्र का आकार-प्रकार भी घटना, संपादक-प्रबंधक को सेंसरशिप में कठोरतम दंड के लिए सहर्ष तैयार होना और माफी माँगकर समाचार-पत्र न निकालना, स्वयं आचार संहिता

बनाना और पालन करना और सर्वोपरि रूप में देशाभिमान और राष्ट्र-प्रेम को प्रेरणा एवं कर्म-शक्ति मानकर चलना।

गाँधीजी ने पत्रकार और पत्रकारिता को एक आदर्श रूप दिया और उसे व्यावहारिक बनाया। उन्होंने यह दिखाया कि एक व्यक्ति किस प्रकार संपादक, पत्रकार, प्रबंधक और शेष सारे दायित्वों को उठाकर तथा सत्याग्रह के संघर्ष के बीच एक साप्ताहिक-पत्र को महत्त्वपूर्ण ही नहीं बल्कि जनता का मुख-पत्र भी बना सकता है। पत्रकारिता के इतिहास में यह बड़ी उपलब्धि थी और गाँधी के लिए भी, क्योंकि 'इंडियन ओपिनियन' के प्रतिमान ही भारत के स्वराज्य आंदोलन में उनके सहायक बनने थे।[11]

महात्मा गाँधी का मानना था कि उन्होंने *''पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश स्वयं पत्रकारिता की खातिर नहीं किया है, बल्कि यह उनके जीवन-ध्येय की पूर्ति में सहायक है, ऐसा मानकर किया है।''*[12] परंतु यह भी सच है कि वे अपने जीवन-काल में ही समाचार-पत्रों की भूमिका से निराश हो गए थे। उन्होंने नई दिल्ली की प्रार्थना-सभा में यहाँ तक कहा था कि अगर उन्हें एक दिन के लिए वायसराय की तरह डिक्टेटर बना दिया जाए तो वे सभी समाचार-पत्रों को बंद कर देंगे। गाँधीजी स्वयं को *शौकिया पत्रकार*[13] कहते थे, जबकि उन्हें लगभग चार दशकों की पत्रकारिता का अनुभव था तथा उन्होंने अंग्रेजी के साथ भारतीय भाषाओं में भी पत्रकारिता की थी। वे भारत के संभवतः एकमात्र ऐसे पत्रकार थे जिन्होंने अंग्रेजी, हिंदी, गुजराती, तमिल तथा अन्य देशी भाषाओं की पत्रकारिता एक साथ की थी। अतः वे केवल अंग्रेजी के पत्रकार नहीं थे, बल्कि वे भारतीय भाषाओं के भी पत्रकार थे, और इस रूप में वे सच्चे अर्थो में राष्ट्रीय पत्रकार थे। प्रसिद्ध साहित्यकार कमल किशोर गोयनका लिखते हैं कि गाँधी का शौकिया पत्रकार वास्तवकि अर्थ में राष्ट्रीय पत्रकार था लेकिन अंग्रेजी पत्रकारिता से वे वैश्विक पत्रकार बन गए थे। अतः भारत में गाँधी जैसा कोई शौकिया पत्रकार नहीं हुआ जिसने अपने राष्ट्र की धड़कनों और संघर्षो को अपने समाचार-पत्रों का मूलाधार बनाकर राष्ट्रीय जागरण किया हो तथा अपनी राष्ट्रीय प्रतिबद्धताओं के बावजूद विश्व की पत्रकारिता में अपने विचारों, कार्यो तथा आंदोलनों के पदचापों को अंकित किया हो।[14]

गाँधीजी ने 9 जनवरी सन् 1915 में भारत आने के बाद 'बॉम्बे क्रॉनिकल' एवं 'सत्याग्रही' का कुछ दिन संपादन करने के बाद 'नवजीवन', 'यंग इंडिया' तथा 'हरिजन' का संपादन किया। 'बॉम्बे क्रॉनिकल' तथा 'सत्याग्रही' के तो एक-दो अंक ही गाँधीजी के संपादकत्व में निकले और बहुत जल्दी उनका संबंध समाप्त हो गया।[15] गुजराती संस्करण 'नवजीवन' जुलाई 1919 में और साप्ताहिक 'यंग इंडिया' सितंबर, 1919 से आरंभ हुए[16] और सविनय अवज्ञा आंदोलन के दौरान गाँधीजी की गिरफ्तारी (जनवरी, 1932) के बाद बंद हो गए। 'हरिजन' का प्रकाशन 11 फरवरी, 1933 से आरंभ हुआ और गाँधी जी की मृत्यु तक (30 जनवरी, 1948) निकलता रहा। इन समाचार-पत्रों के प्रकाशन-काल में अनेक प्रकार की बाधाएँ आईं और कई बार उन्हें बंद भी करना पड़ा। प्रेस तथा कार्यालय की तलाशी हुई और पुराने अंक तथा अन्य दस्तावेज नष्ट भी किए गए, किंतु गाँधी जी कभी हारे नहीं और न ही थके। अपनी गिरफ्तारी तथा सरकारी सेंसरशिप

से जब भी समाचार-पत्र और प्रेस बंद हुआ, उन्होंने अवसर मिलते ही उनका पुनः प्रकाशन किया। गाँधीजी के लिए पत्रकारिता आत्माभिव्यक्ति का साधन थी और लोक-मानस को दशोद्धार का मंत्र देने के लिए जीवंत-शक्ति थी। पत्रकारिता की मशाल उनकी आत्मा में सदैव जलती रही और उनके लक्ष्यों को सर्वत्र प्रसारित करती रही।

गाँधीजी देशी तथा भारतीय भाषा में पत्रकारिता के प्रबल समर्थक थे। गाँधीजी का मानना था कि वह स्वयं भी हिंदी, उर्दू, मराठी और अंत में तमिल भाषाओं के संस्करण निकालने की सोचते हैं, परन्तु सच्चे कार्यकर्ताओं की कमी है। यदि वे हिंदी, मराठी, उर्दू और तमिल जानने वाले योग्य सहायक पा सके तो इन भाषा-भाषियों तक अपनी बात पहुँचाने में उन्हे अत्यधिक प्रसन्नता होगी। यह तो स्पष्ट ही है कि अंग्रेजी तो कोई बड़ा माध्यम है ही नहीं, उससे तो मुट्ठी-भर लोगों के पास ही पहुँचा जा सकता है। वे तो अधिक-से अधिक लोगों के पास पहुँचना चाहते हैं और यह केवल भारतीय भाषाओं के माध्यम से ही किया जा सकता है। गाँधीजी देश के स्वराज्य के लिए लड़ रहे थे और इसके लिए वे पूरे देश को अपना संदेश देना चाहते थे। यह कार्य भारतीय भाषाओं की पत्रकारिता से ही हो सकता था। इसलिए गाँधी जी ने जमनालाल बजाज के आग्रह पर 'हिंदी नवजीवन' निकाला लेकिन उसमें 'यंग इंडिया' (अंग्रेजी) और 'नवजीवन' (गुजराती) की अनूदित सामग्री ही छपती रही। गाँधी जी देशी भाषाओं के अखबारों के बड़े समर्थक थे हमें उनके इस कथन से पता चलता है– *''इससे प्रकट होता है कि देशी भाषाओं के अखबारों की कितनी ज्यादा जरूरत महसूस की जाती है। मुझे यह सोचकर गर्व अनुभव होता है कि किसानों और मजदूरों के बीच मेरे पत्र के इतने अधिक पाठक हैं। भारत तो वे ही हैं। भारत के आबादी के 90 प्रतिशत लोग इसी वर्ग के हैं। अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाएँ तो भारत की विशाल आबादी के इस अगाध सागर का एक तट-भर छू पाती हैं''*[17]

गाँधीजी स्वेच्छा से पत्रकार थे, वे अवैतनिक थे और पत्रकारिता से आजीविका कमाना तो वे अपराध ही मानते थे। गाँधी जी ऐसे पत्रकार थे, जो संपादक थे लेखादि लिखते थे, समाचारों का चयन करते थे, अनुवाद करते थे, प्रेस की मशीन तक चलाते थे, ग्राहकों की संख्या और चंदे का हिसाब-किताब रखते थे, कर्मचारियों को काम का बँटवारा करते थे, प्रबंध देखते थे ओर मुख्य रूप से पाठकों तक अपना जीवन एवं राष्ट्र-दर्शन पहुँचा कर उन्हें दासत्व से मुक्त करके स्वराज्य संघर्ष की शिक्षा देकर उनमें राष्ट्र-प्रेम उत्पन्न करते थे। अतः गाँधीजी तो आज के अर्थ में 'फ्रीलांस जर्नलिस्ट' या 'शौकिया पत्रकार' न थे, बल्कि वे सभी कार्यो में सिद्धहस्त एक संपूर्ण पत्रकार थे जिन्हें 'पूर्ण पत्रकार' अथवा 'सर्वज्ञ पत्रकार' कहना उपयुक्त होगा। वे निजी स्वार्थ-लाभ से शून्य थे, परंतु राष्ट्र हित से परिपूर्ण पत्रकार थे पत्रकारिता जिनका न तो शौक था, न धन कमाने का साधन था, न कीर्ति-लाभ का ही साधन था, वे देश-हित में पत्रकार बने थे जो लगभग चालीस वर्षो तक चार समाचार-पत्रों का संपादन करते रहे। वे 'राष्ट्रकर्मी' ही नहीं 'राष्ट्रधर्मी एवं स्वकर्मी' पत्रकार थे।

गाँधीजी पत्रकारिता में सेंसरशिप विरोधी थे। गाँधीजी चाहते थे कि पत्रकार प्रेस-कानूनों का विरोध करें और परिणामों का सामना करें और ऐसा करने की हिम्मत न हो तो समाचार-पत्र

का प्रकाशन बंद कर दें, पर माफी न माँगें और न जुर्माना जमा करें।[18] गाँधीजी ने इसी टिप्पणी में लिखा, *''मैं आपसे (पत्रकारों से) कहूँगा कि आप उन जंजीरों को तोड़ डालिए जिनमें आप जकड़े हुए हैं। समाचार-पत्रों को आजादी का रास्ता दिखाने और आजादी के लिए जान देने का उदाहरण प्रस्तुत करने का गौरवमय सौभाग्य प्राप्त करना चाहिए। आपके हाथ में कलम है, जिसे सरकार नहीं रोक सकती।''*[19] इस प्रकार गाँधीजी देश की स्वतंत्रता के निमित्त पत्रकारों से प्राणों तक की आहुति चाहते हैं। गाँधीजी पत्रकार के लिए निर्भयता आवश्यक मानते हैं। वे स्वयं निर्भय पत्रकार थे तथा अपनी पत्रकारिता के कारण दक्षिण अफ्रीका तथा भारत में कई बार जेल गए और समाचार-पत्र का प्रकाशन बंद करना पड़ा। गाँधी जी के अनुसार *''लोक-सेवक पत्रकारों को निडर होना चाहिए तथा उन्हें संपत्ति एवं प्रेस के जब्त होने का एवं यहाँ तक की मौत का डर भी छोड़ देना चाहिए।''*[20]

गाँधीजी भारतीय पत्रकारों को पश्चिमी पत्रकारिता की नकल से बचने की चेतावनी देते हैं। तथ्यों की शुद्धता और सत्यता पर जोर देते हैं। गाँधीजी जीवन के ही समान पत्रकार में भी 'नैतिकता' और 'शुद्धता' चाहते हैं। उनके लिए साध्य और साधन दोनों की पवित्रता आवश्यक है। पत्रकार का साध्य देश-हित है, स्वराज्य है, मातृभूमि की सेवा है तो उसका साधन भी इतना पवित्र और नैतिक होना जरूरी है। वे अन्य पत्रकारों तथा समाचार-पत्रों से भिन्न अपनी नैतिकता पर चलते हैं, जिसमें गोपनीय पत्र-व्यवहार, भेंट एवं गोपनीय वार्ता, दस्तावेज तथा झूठी एवं मनगढंत अफवाहें फैलाना सभी अनैतिक और वर्जित है। गाँधीजी पत्रकारों के कुछ दूसरे अनैतिक पक्षों 'यंग इंडिया' में 6 मार्च, 1930 को लिखते हैं कि *''समाचार-पत्रों को अप्रत्यक्ष स्रोतों से तथा प्रायः उल्टे-सीधे साधनों से समाचार बटोरकर उन्हें समय से पहले छापना पत्रकारों का काम नहीं होना चाहिए।*[21] गाँधीजी के विचारानुसार पत्रकार के व्यक्तित्व में आत्मानुशासन, आत्म-नियंत्रण एवं अपनी लेखनी पर अंकुश रखना चाहिए। वे अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के नाम पर पत्रकार को निरंकुश अपरिमित शक्ति देने के पक्ष में नहीं हैं।

गाँधीजी का मानना था कि यदि अखबार दुरुस्त नहीं रहेंगे तो फिर हिंन्दुस्तान की आजादी किस काम की होगी जो अंतिम(गरीब/हासिये) आदमी के अधिकारों की बात न करे। अतः गाँधीजी ने अपने पत्रकारिता-दर्शन को भारतीय-दर्शन बनाया। भारतीय लोक-मानस को प्रमुख स्थान दिया। गाँधीजी जानते थे कि भारतीय समाज और उसकी कामनाओं को केंद्र में रखकर ही वे अपने पत्रकार होने का धर्म निभा सकते थे और अपनी पत्रकारिता को राष्ट्रीय स्वरूप दे सकते थे। अतः गाँधीजी के पत्रकारिता-दर्शन में पश्चिमी सिद्धांत के अनुरूप पत्रकारिता को लोकतंत्र का चौथा स्तंभ माना, राष्ट्रीयता को अपनी पत्रकारिता का मूलाधार बनाया, समाचार-पत्र पर समाज के स्वामित्व को स्वीकार किया और पाठकों की सत्ता और महत्ता को मान्यता दी तथा लोक-शिक्षा को प्रमुख उद्देश्य बनाया। इन सिद्धांतों के मूल में भारत की विशाल जनता ही थी। गाँधीजी तो लोकतंत्र के लिए लड़ रहे थे, अतः लोकतंत्र में संसद, न्याय-व्यवस्था एवं प्रशासन के बाद पत्रकारिता को चौथे स्थान पर स्वीकार करना स्वाभाविक था, क्योंकि पत्रकारिता ही इन तीनों शक्तियों के क्रिया-कलापों पर गहरी दृष्टि रखकर उन्हें लोकतांत्रिक और

लोकोपयोगी बनाए रख सकती थी। गाँधीजी पत्रकारिता की इस अद्‌भुत शक्ति से परिचित थे और उनके अनुभवों ने भी इसकी जबरदस्त शक्ति से उन्हें परिचित करा दिया था। अतः उनकी दृष्टि में भारत राष्ट्र के लिए लोकतंत्र (स्वराज्य) और पत्रकारिता दोनों आवश्यक थे। उनकी राष्ट्रीयता के ये दोनों अंग थे। उनके लिए स्वदेश एवं उनकी मातृभूमि जो भारत-भूमि थी सर्वोपरि थी।

असिस्टेण्ट प्रोफेसर
इतिहास विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)

सन्दर्भ :

** गाँधी, मो. क., सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा (अनु. काशीनाथ त्रिवेदी), नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, 2014, पृ. 140।
1 दिनकर, रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2015, पृ. 450।
2 गुहा, रामचंद्र(अनु. सुशांत झा), गाँधी भारत से पहले, पेंगुइन बुक्स इंडिया(हिन्दी), 2015, पृ. 38-39।
3 वही।
4 गाँधी, मो. क., सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा (अनु. काशीनाथ त्रिवेदी), नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, 2014, पृ. 102।
5 वही, पृ.140।
6 मिश्र, भवानीप्रसाद, कुछ नीति कुछ राजनीति, प्रतिश्रुति प्रकाशन, कोलकाता, 2014, पृ. 109।
7 वही, पृ. 109।
8 गाँधी, मो. क., पूर्वोक्त, पृ. 265।
9 वही, पृ. 266।
10 मिश्र, भवानीप्रसाद, पूर्वोक्त, पृ. 109।
11 गोयनका, कमल किशोर, पत्रकारिता के प्रतिमान, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, 2016, पृ. 59।
12 'यंग इंडिया', 27/09/1925।
13 संपूर्ण गाँधी वाङ्मय, खण्ड-30, पृ. 186।
14 गोयनका, कमल किशोर, पूर्वोक्त, पृ. 16-17। प्राक्कथन से उद्धृत।
15 मिश्र, भवानीप्रसाद, पूर्वोक्त, पृ. 116।
16 वही।
17 यंग इंडिया, 8/10/1919, सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय, खण्ड-16, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, पृ. 229।
18 सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय, खण्ड-14, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, पृ. 84।
19 वही, खण्ड-76, पृ. 435।
20 वही, खण्ड-10, पृ. 242-243।
21 वही, खण्ड-43, पृ. 15।

एक सच्चा कलाकार

–नंदलाल बोस
हिन्दी रूपांतर - अभिषेक सक्सेना

मैं कोई शब्द-शिल्पी नहीं हूँ और न ही भाषा मेरी वृत्ति। इसीलिए आपके लिए किसी ऐसी विभूति के बारे में लिखने में मैं स्वयं को असमर्थ पा रहा हूँ जिसके लिए मेरे हृदय में भी परम आदर, प्रेम और सम्मान है। इसी प्रेम के वशीभूत हो मैं उनकी महात्माजी वाली नहीं बल्कि बापूजी वाली छवि पर लिखना चाहता हूँ। अपने प्रति उनके स्नेह और उनके प्रति मेरे प्रेम की वजह से ही मैं उनसे जुड़ा हूँ। आप नहीं जानते कि यह कितना अद्‌भुत और शाश्वत सम्बन्ध है।

मैं पहली बार मोहनदास करमचंद गाँधी के प्रति उनके बहुविध व अद्वितीय गुणों की वजह से आकर्षित हुआ था। ऐसा गाँधी जो दिल से मजबूत और खरा है, सत्कर्मों में निर्भय है, जिसे सब चाहते हैं, जो सबसे प्रेम करता है, जिसने अपना जीवन गुलाम भारत को उसका पुराना वैभव लौटाने में लगा दिया है, जिसकी विनम्रता अपने शत्रुओं को भी उनकी अज्ञानता के लिए क्षमा कर देती है, जो हिंसा और घमंड से परे है, जो आत्मसंवरण अप्रतिरोध्य आत्म-शक्ति का भण्डार है, पीड़ित एवं दमित के प्रति करुणा ने जिसे संन्यासी बना दिया, जिसने लोक कल्याण की खातिर अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया। यह गाँधी गुणों का भण्डार, स्व-नियंत्रित, स्वानुशासित ईश्वर प्रेमी, सच्चे धर्म का अनुयायी, एक सम्पूर्ण सत्याग्रही भी है।

मैं एक चित्रकार हूँ, इसलिए मेरी समझ श्रव्य माध्यमों की बजाय दृश्यों से बनती है। यही वजह है कि मैं उनसे मिलने का अवसर खोज रहा था। जब मैं पहली बार प्रत्यक्ष रूप से उनसे मिला तो हमारे बीच प्रशंसक और प्रशंसित का संबंध था।

एक दिन उनका संदेश आया कि मैं लखनऊ कांग्रेस में भारतीय चित्रों की प्रदर्शिनी आयोजित करने के लिए आमंत्रित हूँ। इस आमंत्रण में इतना आग्रह था कि मैं इसे ठुकरा नहीं सका। हालाँकि इतनी दूर जाकर इतने बड़े आयोजन का दायित्व स्वीकार करने में एक झिझक थी। फिर भी आमंत्रण को नजरंदाज करना मेरे वश में नहीं था। मैंने यह दायित्व स्वीकार किया और उनके आशीर्वाद से कार्य संतोषजनक ढ़ंग से पूर्ण भी हुआ।

मैंने लोगों को यह कहते हुए सुना था कि वे कला के प्रति बहुत सचेत नहीं हैं, परन्तु मेरा अनुभव इसके विपरीत रहा। उन्होंने लखनऊ प्रदर्शनी में प्रदर्शित प्रत्येक चित्र को एक

चित्रकार की नज़र से देखा। एक छोटी-सी घटना से सौन्दर्य और अनुपात को समझने की उनकी आन्तरिक दृष्टि का पता चलता है। प्रदर्शनी सभागार को बाँस, लताओं और लकड़ी के टुकड़ों जैसी साधारण सामग्री से सजाया गया था। ऐसी साधारण चीजों के प्रयोग से कहीं सजावट का प्रभाव कम न हो यही हमारी सबसे बड़ी चिन्ता थी। लोगों ने पहली बार देखा कि साधारण चीजों का प्रयोग करके भी सुंदरता बरकरार रखी जा सकती है। हालाँकि यह हमारे लिए नया नहीं था, हम अपने आश्रम (शान्तिनिकेतन) में कलात्मक प्रभाव लाने के लिए हमेशा ही ऐसी चीजों का प्रयोग करते रहे हैं।

बापू जी भी साधारण वस्तुओं से कलात्मक सृजन के पक्षधर थे। इसी कारण से वे हमारे काम और प्रयासों को देखकर काफी खुश हुए थे। यूँ तो प्रदर्शनी कक्ष में सारे प्रबंध भलीभाँति हो चुके थे परन्तु किसी ने लापरवाही से मेज के नीचे टोकरी छोड़ दी। ये हमारी नजर से बच गया, परन्तु बापूजी की निगाह से नहीं बच सकी। उन्होंने तुरन्त इसे देख लिया और कहा ''यह टोकरी इस स्थान की सुन्दरता नष्ट कर रही है न?'' वे हर रोज प्रदर्शिनी में आते और अच्छा खासा समय बिताते।

इसके बाद जब कांग्रेस का अधिवेशन फैज़पुर में आयोजित हुआ तो उन्होंने मुझे वहाँ सजावट की व्यवस्था करने के लिए आमंत्रित किया। उनके पत्र का मजमून कुछ यूँ था, ''हृदय थोड़ा पाकर और अधिक पाने को लालायित है।'' उसी पत्र में उन्होंने मुझसे सेवाग्राम पहुँचने और वहाँ उनसे मिलने का अनुरोध किया। उत्तर में मैंने निवेदन किया कि मैं एक चित्रकार हूँ, मुझे वास्तुकला का ज्ञान नहीं है, इसलिए मैं इस कार्य के लिए उपयुक्त व्यक्ति नहीं हूँ। प्रत्युत्तर में उन्होंने एक सुन्दर-सा पत्र लिखा कि मेरे पास उनका आमंत्रण स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं था। पत्र का मजमून था ''मुझे एक विशेषज्ञ पियानोवादक नहीं, बल्कि ईमानदार एवं निष्ठावान वायलिनवादक की आवश्यकता है।'' लिहाजा मैं सेवाग्राम के लिए निकल गया। महादेव देसाई मुझे उनके पास ले गए। उनकी कुटिया में अपना स्थान ग्रहण करते हुए मैंने देखा कि वे मीराबेन और अन्य बीमार सत्याग्रहियों की सेवा-शुश्रुषा में व्यस्त हैं। बीमार कमरे के दो कोनों में अपने बिस्तरों पर पड़े हैं और महात्माजी उन्हें दवाएँ देने में व्यस्त हैं। हालाँकि मैं उनके बहुत पास बैठा था फिर भी उन्होंने मुझे और पास बुलाते हुए कहा कि कमरे में रोगी हैं इसलिए बातचीत बहुत धीमी आवाज में करनी होगी। मैंने आदरपूर्वक उनके पैर छुए। मैं उनकी सादगी और विनम्रता से बहुत प्रभावित हुआ। उनकी आभा निर्मल एवं तेजवान है। मुझे लगा जैसे मैं उनके हृदय की अतल गहराई को झाँक सकता हूँ। मेरी तीव्र इच्छा थी की उनकी आँखों के सामने अपना दिल खोल कर रख दूँ, और बताऊँ कि मैं उनका कितना आदर करता हूँ। क्या दैवीय मुस्कान थी उनकी! उसे देखकर कठोर-से-कठोर हृदय भी पिघल जाएँ। उनके शब्दों में लेशमात्र का भी संकोच या अस्पष्टता नहीं थी, हर शब्द चमकदार हीरे की ही तरह चमकता प्रतीत हो रहा था। मैं जो भी कहना चाहता था तो वे मेरे कहने और मेरी बात पूरी होने के

पहले ही उसका जवाब दे देते मानो वे मेरे मन को पढ़ रहे हों। शब्दों की भाषा मानो बेमानी हो गयी हो। उन्होंने महादेव को कहा कि मुझे फैज़पुर तक ले जाने और वापसी की यात्रा की व्यवस्था करने का निवेदन जमनालाल जी से करें।

मैं जब महात्माजी के सानिध्य में था तब एक युवा अमरीकी ईसाई धर्मप्रचारक ने उनसे पूछा कि वे किस धर्म में विश्वास रखते हैं और भारत का भविष्य का धर्म कैसा होने जा रहा है। उनका उत्तर बहुत संक्षिप्त था। कमरे में दो बीमार व्यक्तियों की ओर इशारा करते हुए उन्होंने कहा कि ''सेवा ही मेरा धर्म है; मैं भविष्य की चिंता नहीं करता।'' उन्होंने फैज़पुर में मेरा परिचय अनेक कांग्रेसीजनों से कराया, विशेषकर विनोबा जी से। उन्होंने विनोबा जी का परिचय कराते हुए कहा कि ''आप इनसे मिलकर बहुत प्रसन्न होंगे; ये विद्वान हैं, अच्छे लोगों के प्रेमी हैं; इन्होंने मातृभूमि के लिए सर्वस्व न्यौछावर कर दिया है।'' उन्होंने यह भी कहा, ''मैं फैज़पुर अधिवेशन की एक अनोखी खूबी आपको बताना चाहता हूँ जो असल में मेरा ही विचार है। यह अधिवेशन ग्रामीणों के लिए है, न कि शहरियों के लिए। इसलिए सारी सजावट व व्यवस्थाएँ ग्रामीणों के हिसाब से ही होनी चाहिए और गाँवों में उपलब्ध सामग्री से ही की जानी चाहिए। कांग्रेस का हर कार्यकर्ता आपके इस काम में आपकी मदद करेगा। मुझे पूरा विश्वास है कि आप इसमें सफल होंगे।'' इस तरह उन्होंने साज-सज्जा की सारी जिम्मेदारी मेरे कंधों पर छोड़ दी।

मैं फैज़पुर गया, इंजीनियरों से मिला और अपने काम के लिए व्यवस्थायें जुटाना आरम्भ किया। सही शुरुआत कांग्रेस के अधिवेशन के आरम्भ होने के लगभग दो माह पहले हमारे कला भवन के कुछ शिष्यों की सहायता से हुई। अधिवेशन प्रारम्भ होने के कुछ दिन पहले महात्मा जी ने हमारे कार्य का निरीक्षण किया, वे इस बात से प्रसन्न थे कि साज-सज्जा ग्रामीण परिवेश हेतु सर्वथा अनुकूल थी।

मैं आपके समक्ष एक और घटना का उल्लेख करना चाहूँगा। कांग्रेस अध्यक्ष जवाहरलालजी को पण्डाल तक लाने के लिए बहुरंगी देशी झूलों से एक रथ बनाया गया था, जिसे छह जोड़ी बैलों द्वारा खींचा जाना था। अधिवेशन की तैयारियों के कुछ दिन बाद महात्माजी ने मुझे बुला भेजा और कहा ''मैंने भी अपनी पोती जैसी एक छोटी बच्ची की सहायता से बड़ी मेहनत से एक नमूना तैयार किया है, इससे तुम दो दिन में वैसा ही रथ तैयार कर दो जैसा हमने जवाहरलालजी के लिए तैयार किया है, और इसे प्रदर्शनी प्रांगण में लगाओ। ध्यान रहे रथ में छह जोड़ी बैल भी हों– खिलौने वाले। मैं पूर्णतः आश्वस्त हूँ कि तुम ऐसा कर दोगे।'' हम कलाकार इस विचार से काफी उत्साहित हुए और काम पर लग गए। बाँस के टुकड़ों के ढ़ाँचे से हमने छह जोड़ी बैल बनाए, उन्हें रथ से जोड़ा और महात्माजी को दिखाया। इसे देखते ही वे बच्चों की तरह जोर से हँस पड़े। बाद में उन्होंने अपने भाषण में हमारे कलात्मक कार्य का विशेष उल्लेख किया।

हरीपुरा अधिवेशन के लिए एक बार पुनः बुलावा आया। इस बार अधिवेशन बहुत बड़ा था इसलिए हम तीन या चार महीने पहले ही इकट्ठे हो गए। बापूजी का हमारे काम को लेकर निर्देश था कि प्रदर्शनी इस प्रकार हो कि ग्रामवासी सड़क पर चलते समय कलाकृतियाँ देख सकें। दूसरे शब्दों में कहें तो हमें पूरे अधिवेशन नगर को ललित कला की प्रदर्शनी बनाना था। उसी के अनुरूप हमने लगभग 400 पट्ट चित्र बनाए और उनका इस्तेमाल विजय स्मारकों और नगर के घरों को सजाने में किया। चित्रों की प्रदर्शनी भी आयोजित की गई। चित्र इस प्रकार व्यवस्थित किए गए थे कि उनमें विश्व के अनेक देशों की कला-संस्कृति की झलक मिले। जब गाँधीजी हरीपुरा आए और मुझसे मिले तो उन्होंने मेरी तारीफ करते हुए कहा ''तो! तुममें अब भी जान बाकी है!'' उनके कुछ शब्दों ने ही मेरे काम की प्रशंसा और मेरे प्रति उनके प्रेम, दोनों को व्यक्त कर दिया।

एक और मौके पर सेवाग्राम में मुझे उनसे कला पर बात करने का अवसर मिला। उसके बाद उन्होंने मुझे जमनालालजी के मंदिर के जीर्णोद्धार और उसकी भित्तियों की सजावट के सिलसिले में याद किया। हालाँकि मंदिर की हालत मरम्मत लायक नहीं थी। बातचीत के दौरान उन्होंने कहा ''क्यों न एक नया मंदिर बनवाया जाये?'' मैंने कहा (जो मैं उस वक्त सोचता था), ''इतने सारे मंदिर तो हैं, और बनाये जाने की क्या आवश्यकता है?'' काफी देर तक वे चुप रहे फिर बोले ''मंदिर बार-बार बनाने होंगे क्योंकि जब-जब मनुष्य नए सच्चे आदर्श का साक्षात्कार करेगा, तब-तब वह उनके लिए मंदिर की स्थापना की आवश्यकता महसूस करेगा। सच कहूँ तो परम सत्य आदर्शों को प्रतिष्ठापित करने वाले मंदिर पृथ्वी से कभी नष्ट नहीं हो सकते।'' मैंने उनसे प्रश्न पूछने की हिम्मत जुटाई। मेरे मन में एक छोटा-सा संदेह पैदा हो रहा था कि वे संस्कृति के क्षेत्र में कलाकृतियों को समुचित स्थान नहीं देते। उन्होंने कहा समस्त कलात्मक उपलब्धियाँ उन्हें प्रिय हैं बशर्ते वे परम सत्य की खोज में सहायक हों। विशेषतः गीत उन्हें धीरज प्रदान करते। वे आगे कहते हैं, ''यदि मैंने देश की आजादी के लिए सत्याग्रही होने की प्रतिज्ञा न ली होती तो शायद मैं गीतों में ही रमता। पर अब इसका कोई अर्थ नहीं। मैंने स्वयं यह लक्ष्य चुना है। इस जीवन में तो मैं किसी और चीज के लिए नहीं मुड़ सकता, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मैं कला को कमतर समझता हूँ। कला तो मानव संस्कृति का एक जरूरी हिस्सा है।'' मुस्कराते हुए वे कहते हैं ''मुझे पता है कि कला के क्षेत्र में मैं अशिक्षित के रूप में कुख्यात हूँ।''

महात्माजी भले ही हम पेशेवर कलाकारों जैसे कलाकार न हों पर मैं उन्हें सच्चा कलाकार ही मानता हूँ। अपना सम्पूर्ण जीवन उन्होंने व्यक्तित्त्व निर्माण और लोगों को अपने उच्च आदर्शों के अनुरूप तराशने में लगाया। उनका लक्ष्य मिट्टी के मनुष्यों को देवता बनाने का था। मुझे पूर्ण विश्वास है कि उनके आदर्श विश्व के कलाकारों को प्रेरित करते रहेंगे।

उनके अन्य कई विचार बहुतों के लिए अभी भी अस्पष्ट हैं, जैसे कि वे मशीनों द्वारा वस्तुओं के निर्माण के विरोधी क्यों हैं? यह सोचना गलत होगा कि वे मशीनों को पसन्द नहीं करते हैं। हम कलाकार लोग उनकी इस राय की विवेचना इस प्रकार करेंगे : मशीन-निर्मित वस्तुयें उपयोगी हो सकती हैं और देश की भौतिक सम्पदा में वृद्धि भी कर सकती हैं, परन्तु वे रचना की आत्मा को सम्प्रेषित करने में पूर्णतः असफल हैं। महात्माजी के विचार कलाकार की सच्ची भावनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। कोई भी कलाकृति जिसमें कलाकार के व्यक्तित्व और मन की छाप न हो 'रस' या 'कला' की भावना की अभिव्यक्ति नहीं कर सकती। कला की अभिव्यक्ति का कोई सार्वभौम तरीका नहीं है; केवल कला का सत्व ही सार्वभौम है। यदि ऐसा न होता तो कला में ऐसी अदभुत विविधता न होती। ऐसे विविधता युक्त संसार में सामंजस्य स्थापित करना ही श्रेष्ठ कलाकार की मुख्य भूमिका होती है। यही मानव कलाकार का भी सत्य है। कला तो सदा से ही एकसमान है, किन्तु हर कलाकार के लिए इसका इलहाम अलग है और यही कला की मौलिकता का मूल भी है। बड़े पैमाने पर उत्पादित वस्तुयें कलाकार या दस्तकार के हस्तशिल्प से अलग हो सकती हैं और व्यक्ति एवं समाज के लिए हानिकारक भी हैं। वे अपने साथ समाज में दरिद्रता, असामंजस्य और अव्यवस्था भी लाती हैं। भले ही मशीनें आदमी की कमाई में इजाफा करती हों, परन्तु उसकी आत्मा को सृजन के सुख से वंचित भी करती हैं। दैवीय गुण विकसित करने की बजाय मनुष्य एक जानवर मात्र में पतित हो जाता है। कलाकृति की रचना में कलाकार यथायोग्यता साधारण वस्तुओं और उपकरणों का उपयोग करता है। कलाकार यथासम्भव कम-से-कम और साधारण-से-साधारण सामग्री का उपयोग करता है क्योंकि इस प्रकार वह स्वयं को बेहतर ढ़ंग से अभिव्यक्त कर सकता है, न कि इसलिए कि उसे उपकरणों या मशीनों से कोई जन्मजात बैर है।

मैं अब आपको एक घटना के माध्यम से बताता हूँ कि कैसे सामान्य चीजें सुन्दरता के सृजन और प्रकृति के प्रति सहानुभूतिपूर्ण कलाकार बनाने में मदद करती हैं। सेवाग्राम में बापूजी से हुई मेरी पहली मुलाकात का विवरण मेरे तर्क को स्पष्ट करेगा। उनकी कुटिया गाँव की एक औसत कुटिया से थोड़ी बड़ी थी। इसके तीन ओर बरामदे, एक झुकी हुई छत, हवा और प्रकाश के लिए अनगिनत दरवाजे और खिड़कियाँ थीं। फर्श और दीवारें गाय के गोबर से लीपी हुई थीं; बैठने और आराम करने के लिए कोने में एक चटाई पड़ी थी जिस पर तह किया हुआ खादी का चद्दर और एक तकिया या मसनद रखी हुई थी। खादी की चद्दर के बाजू में डील की लकड़ी के सामान रखने के बक्से और चिट्ठियों व फाइलों से भरा गत्ता था। ठीक सामने एक बक्सा खादी से ढका हुआ था जो लिखने की मेज का काम कर रहा था, एक तरफ साफ उबले पानी की एक बड़ी बोतल, पीपल की पत्ते जैसे आकार की लोहे की चद्दर से ढका कांसे का एक छोटा चौरस गुजराती लोटा और एक छोटी बाँस की टोकरी थी। भले ही कमरे की छपाई केवल

गाय के गोबर से हुई थी फिर भी माहौल साफसुथरा और खूबसूरत था। कमरे में कोई भी तस्वीर, फोटोग्राफ, आकृति या मूर्ति नहीं थी। एक दो आले थे जिनमें मीराबेन ने मिट्टी से कुछ किनारीनुमा नक्काशी बना दी थी।

कमरे के बाहर मैंने बा और मीराबेन को यहाँ-वहाँ आते जाते देखा। वे अतिथियों और आश्रम के निवासियों के आराम की व्यवस्था देखने में व्यस्त थीं। कुछ ग्रामीण बरामदे में बैठे थे जो अलग-अलग कामों से बापूजी से मिलने देखने आते रहते थे। ठीक पीछे गौशाला थी जिसकी देखभाल खुद महात्माजी करते थे। वे काफी हद तक भरे हुए कमरे में बैठे थे, भूरी चमड़ी वाले, स्वयं में सादगी की प्रतिमूर्ति। पोशाक के नाम पर कमर के चारों ओर कस के लपेटा हुआ खद्दर का एक कपड़ा, उसी से लटकती हुई एक घड़ी और होठों पर एक सुन्दर सी मुस्कान। जब मैंने उनको देखा तो वे मुझे म्यान में रखी बढ़िया स्वभाव की तलवार-सी लगे, तलवार के सारे गुणों से लबरेज सिवाय हिंसा के। यह तलवार मानव जाति की अज्ञानता के गहरे अँधेरे को चीर सकती थी। हम जब-तब कला व शिल्प और शान्तिनिकेतन की बात कर रहे हैं। यह जानकर कि मैं लोटे के ऊपर चढ़ी पीपल की पत्तीनुमा लोहे की चादर को ध्यान से देख रहा हूँ, उन्होंने पूछा, ''सुन्दर है ना? इसमें प्रकृति की छाप है; इसी गाँव के एक लोहार ने बनाया है और अपने प्रेम की निशानी के रूप में मुझे भेंट किया है। यह मेरे लिए अमूल्य है।'' मैं सोचता हूँ कि कलात्मक सृजन के समस्त सिद्धान्तों की पूर्ण व्याख्या इन शब्दों में मिल जाती है। हालाँकि कमरे में एक भी कलाकृति नहीं थी, पर लोहे की बनी इस पीपल की पत्ती ने सारी कमी पूरी की दी है। बापूजी के कमरे की जो तस्वीर मैंने आपके सामने प्रस्तुत की उसके कोने में झलकायी हुई पीपल की पत्ती स्वयं कला की देवी के हस्ताक्षर या मुहर है।

हिन्दी अनुवादक
राजभाषा प्रकोष्ठ
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)

अँग्रेजी के सामने हिन्दी : रावण रथी विरथ रघुवीरा

–जयकुमार जलज

यह सच्चाई कितनी ही अपमानजनक और पीड़ादायक क्यों न हो पर अब इसे स्वीकार कर लेना चाहिए कि स्वतंत्र भारत में हिन्दी, अँग्रेजी से पराजित हो गई है। यही एक काम है जो हमने अँग्रजों से कम समय में कर दिखाया। वे इसे 200 साल में नहीं कर सके। हमें 50 साल से भी कम समय लगा। उन्होंने प्राथमिक शिक्षा का माध्यम अँग्रेजी को नहीं बनाया था। महानगरों के बच्चे भी मातृभाषा में शिक्षा पाते थे। यूनेस्को की मान्यता है कि बच्चा एक अनजान माध्यम की अपेक्षा मातृभाषा के माध्यम से अधिक तेज गति से सीखता है लेकिन हमारी नीति और सरकार गाँवों की प्राथमिक शालाओं में अँग्रेजी माध्यम लादने की तैयारी में है।

आजादी के बाद, देश में दो बड़ी समस्याओं, कश्मीर और राजभाषा को दृढ़ राजनीतिक इच्छाशक्ति से हल किया जाना था। हमने सकुचाते हुए और डर से हल करना चाहा। पाकिस्तान ने कश्मीर पर कबाइली हमला किया। हमले को नाकाम करती हमारी सेना पूरा कश्मीर खाली करवा पाती, इसके पहले ही हमने संघर्ष विराम कर लिया। संविधान ने हिन्दी को राजभाषा घोषित तो 14 सितम्बर, 1949 को कर दिया था, लेकिन प्रावधान करवाया गया कि यह घोषणा 15 साल बाद लागू होगी। तब तक हिन्दी सक्षम हो जाएगी। 1967 में फिर प्रावधान करवाया गया कि अँग्रेजी अनिश्चितकाल तक बनी रहेगी। हिन्दी की सक्षमता कौन, कब और कैसे नापेगा, इस बारे में कुछ भी नहीं बताया गया। लीपापोती ने कश्मीर व राजभाषा दोनों समस्याओं को नासूर बना दिया। कश्मीर की समस्या सतह पर है। बाह्य है। दिखती है। राजभाषा की समस्या अन्दर की है। दिखती नहीं है। देश की 95 प्रतिशत से अधिक आबादी की मौलिक प्रतिभा अँग्रेजी के कारण ही दीन व गूँगी बनी रहने को अभिशप्त है। नासूर को चीरा लगाना पड़ता है, पर यह काम काँपते हाथों से न हुआ है और न होगा।

14 सितम्बर, 1949 को जैसे ही संविधान में हिन्दी को राजभाषा स्वीकार किया गया, देश की बहुत बड़ी आबादी जश्न में डूब गई। संविधान सभा के अध्यक्ष डॉ. राजेन्द्रप्रसाद ने प्रसन्न भाव से टिप्पणी की, 'हमने जो किया है, उससे ज़्यादा अक्लमंदी का फैसला हो ही नहीं सकता था।' जश्न मनाते लोग यह समझ बैठे कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित किया गया है। राष्ट्रभाषा (नेशनल लैंग्वेज) और राजभाषा (ऑफिशियल लैंग्वेज) के अंतर पर उनका ध्यान ही नहीं गया।

संविधान सभा ने जब यह प्रावधान किया कि अभी 15 साल तक अँग्रेजी ही राजभाषा यानी सरकारी कामकाज की भाषा बनी रहेगी ताकि हिन्दी को समर्थ होने का वक्त मिल जाए तब इसके निहितार्थ और फलितार्थ का अन्दाजा भी सदस्यों को नहीं हुआ। इसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। भाषा उपयोग से समर्थ बनती है। पैरों को भी चलाया न जाए तो वे कमजोर हो जाते हैं। वाहन भी चलाने से ही तो वाहन चलाना आता है। लम्बे समय तक उसे चलाएँगे नहीं तो हमारा चलाने का समार्थ्य भी कम होता जाएगा और वाहन को भी जंग लग जाएगी। सत्ता के सिंहासन पर बैठा दी गई अँग्रेजी जहाँ ताकतवर होती गई, वहीं हिन्दी को कमजोर होते जाना पड़ा। फिलवक्त, अँग्रेजी के सामने हिन्दी 'रावण रथी विरथ रघुवीरा' की तरह है। रावण अस्त्र-शस्त्र से लैस है। रथ पर सवार है। राम नंगे पैर हैं। बिना रथ के हैं। सिर्फ धनुष-बाण लिए हैं। पैदल हैं।

अगर सरकारी कामकाज में अँग्रेजी का प्रयोग तत्काल बंद कर दिया जाता तो हिन्दी 10-15 साल तक जरूर लड़खड़ाती हुई चलती लेकिन फिर अपनी सहज, स्वतंत्र और मौलिक चाल से चलने लगती। उसे अँग्रेजी का पिछलग्गू और अनुवाद की जड़ भाषा बन कर नहीं रहना पड़ता। वह अपने सधे और स्वाभाविक कदमों से चलते हुए एक प्रौढ़/परिपक्व राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेती। उसके पास सिर्फ कागजी प्रमाण पत्र नहीं, राजभाषा होने का 65–67 साल का वास्तविक अनुभव होता।

1967 के राजभाषा कानून से तो अँग्रेजी के वास्तविक राजभाषा बनने पर मुहर लग गई। सिद्धांत और संविधान में हिन्दी भारत की राजभाषा है पर उसकी चलती नहीं। चलती अँग्रेजी की है, जिसे संविधान की आठवीं अनुसूची में भारत की 22 भाषाओं में भी शामिल नहीं किया गया है, उस अँग्रेजी में सरकार के मूल दस्तावेज जारी होते हैं। उन्हें प्रामाणिक होने की मान्यता प्राप्त है। उनके साथ उनके हिन्दी अनुवाद नत्थी रहते हैं पर उनकी मान्यता न होने से उन्हें कोई नहीं पढ़ता। हिन्दी अनुवाद लापरवाही और उपेक्षा के शिकार होते हैं। उन्हें बिना पढ़े फाइल कर दिया जाता है। अर्द्ध सरकारी और गैर सरकारी विभागों में भी यही होता है। टेलीफोन की डायरेक्टरी, रेल्वे की समय सारणी आदि पहले अँग्रेजी में आती हैं, बाद में उनका हिन्दी संस्करण आता है। हिन्दी संस्करण कब आएगा, इसका कोई निश्चय नहीं रहता। लोग अँग्रेजी संस्करण खरीद लेते हैं। बाद में आने वाले हिन्दी संस्करण के लिए भला कौन रुका रहेगा? सरकारी और गैर सरकारी निष्कर्ष निकाल लिया जाता है कि हिन्दी संस्करण की बिक्री नगण्य है।

आजादी के तुरंत बाद प्रकाशकों को लगने लगा था कि अब तो भविष्य हिन्दी का है। अँग्रेजों ने भी छोटी कक्षाओं में पढ़ाई का माध्यम हिन्दी को ही रहने दिया था। इसलिए प्रकाशकों ने जोर-शोर से हिन्दी किताबें छापना शुरू किया। कुछ अच्छी किताबें बाजार में आने लगीं। ये सहज हिन्दी में थीं। समझ में आती थीं। लेकिन इस बीच सरकारों ने अँग्रेजी में उपलब्ध

ज्ञान-विज्ञान को भले ही अच्छी नियत से हो, हिन्दी में लाने की योजना बना डाली। राशि आवंटित हुई। ग्रंथ अकादमियों ने अनुवाद करवाना शुरु किया। जिन्हें अनुवाद का काम दिया गया, वे अपने विषय के विशेषज्ञ तो थे पर हिन्दी और अनुवाद का अभ्यास उन्हें नहीं था। इस क्षेत्र में उनकी गति प्रायः शून्य थी।

अनुवाद करवाने वाली संस्थाएँ समय-सीमा में अनुवाद चाहती थीं। अनुवादकों में से कुछ ने पारिश्रमिक में से हिस्सा देते हुए या लिहाज में ही दूसरों से अनुवाद करवा लिया। यह भी हुआ कि एक किताब का अनुवाद करवाने में एक से अधिक व्यक्तियों को अलग-अलग पृष्ठ बाँट दिए गए। फिर जिसे जितने पृष्ठ मिले उसने भी उन्हें दूसरों में वितरित कर दिया। इस तरह अनुवाद का काम ठेके पर हुआ। सरकारें/अकादमियाँ/संस्थाएँ भूल गईं कि ठेके पर नहरें तो बन सकती हैं, नदियाँ नहीं। यहाँ तो नहरें भी नहीं बन पाईं।

अनुवादों की भाषा-शैली में एकरूपता के अभाव की चर्चा और आलोचना हुई तो विषय विशेषज्ञों ने भी वही रास्ता अपनाया जो अनुवादकों ने अपनाया था। कहीं-कहीं यह नियम भी रहा कि अनुवाद पर अनुवादक और भाषा विशेषज्ञ का नाम नहीं दिया जायेगा। इससे उन्हें लापरवाही बरतने की पुख्ता छूट मिल गई। जवाबदेही नहीं रही। अपयश का डर नहीं रहा। ऐसे अनुवादों से न विषय की सेवा हुई न हिन्दी की।

पिछले दिनों यूपीएससी के सी-सेट प्रश्नपत्र के विरोध की जड़ में उसका हिन्दी अनुवाद भी था। टेबलेट कम्प्यूटर और स्टील प्लाण्ट का अनुवाद अगर गोली कम्प्यूटर और स्टील पौधा होगा तो समस्या तो आयेगी ही। फिर भी कोई भाषा कठिन शब्दों या पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग से उतनी कठिन नहीं होती जितनी गलत वाक्य रचना, परसर्गों के यथास्थान गैर प्रयोग, क्रियाओं के लापरवाह प्रयोग, स्रोत भाषा की प्रकृति को अनुवाद की भाषा पर हावी होने देने से होती है। इन तमाम कारणों ने अनुवाद की जिस हिन्दी को प्रस्तुत किया उससे दुर्भाग्य से यह धारणा बनी कि हिन्दी कठिन भाषा है, कि उसमें ज्ञान-विज्ञान का माध्यम बनने का माद्दा नहीं है।

हिन्दी का रथ रोकने के लिए आजादी के पहले से ही प्रयत्न होने लगे थे, एक दुखद लेकिन ताकतवर प्रयत्न यह हुआ कि संस्कृत और उर्दू को हिन्दी के बरअक्स खड़ा कर दिया गया। कहा गया कि संस्कृत समर्थ भाषा है। देश को जोड़ती है। देश की हर भाषा में बड़ी संख्या में उसके शब्द सम्मिलित हैं। वह हमारी संस्कृति की भाषा है। उसमें हर तरह का ज्ञान-विज्ञान है। वह एक बड़ी आबादी के धर्म की भाषा भी है। उसमें कालिदास जैसे कवियों का साहित्य है। वह एक पुरानी भाषा है। काश! संस्कृत की पैरवी करने वालों ने कालिदास के इस कथन पर ध्यान दिया होता कि 'किसी वस्तु की अच्छाई उसके नये या पुराने होने पर निर्भर नहीं होती।' भाषा का बोला जाने वाला रूप ही उसका मूल रूप होता है। वही उसको विकास यानी परिवर्तन की दिशा में आगे ले जाता है। लिखित रूप तो बोले जाने वाले रूप की नकल

होता है। वह विकास नहीं करता बल्कि विकास का विरोधी भी होता है। संस्कृत जब बोली जाने वाली भाषा थी तब उसने भी विकास किया था। तब उसके विकास की गति बहुत तेज थी। लगभग 500 साल की अवधि में वह इतनी विकसित अथवा परिवर्तित हुई कि उसके नए रूप को एक स्वतंत्र भाषा प्राकृत नाम दिया गया। फिर प्राकृत को अपभ्रंश और अपभ्रंश को हिन्दी नाम दिया गया। यह परिवर्तन संस्कृत भाषा का क्रमिक विकास ही है। हिन्दी अपभ्रंश की बेटी, प्राकृत की पोती और संस्कृत की पड़पोती है। संस्कृत आदर की पात्र है पर विकास में वह पीछे छूट चुकी है।

भाषा का विकास कठिनता से सरलता की ओर होता है। वह जटिलता का केंचुल उतार कर उसे इतिहास के कूड़ेदान में फेंकती हुई आगे बढ़ती है। संस्कृत को अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए तीन लिंग, तीन वचन और आठ विभक्तियों का सहारा लेना पड़ता है। हिन्दी यह काम दो लिंग, दो वचन और तीन विभक्तियों से कर लेती है।

आठ कारकों का भाव प्रकट करने के लिए संस्कृत को कुछ शब्दों के 72 रूपों तक का सहारा लेना पड़ता है। हिन्दी सिर्फ 6 रूपों से आठों कारकों का भाव प्रकट कर लेती है। हिन्दी में तीन विभक्तियाँ हैं। एकवचन और बहुवचन इन दोनों वचनों में उसके रूप हैं- लड़का लड़के, लड़के, लड़कों, हे लड़के, हे लड़कों। संस्कृत रूपों को रटने का बच्चों का डर अनुचित और अस्वाभाविक नहीं है। हिन्दी में परसर्गों का प्रयोग इस समस्या को पैदा ही नहीं होने देता।

संस्कृत के विशेषणों को विशेष्य के लिंग और वचन का अनुसरण करना पड़ता है। हिन्दी के सिर्फ आकारान्त विशेषणों में ऐसा होता है। संस्कृत कृदन्तों से विकसित होने के कारण हिन्दी क्रियाओं में कर्ता के अनुसार लिंग परिवर्तन की समस्या जरूर है पर अब उसे इससे भी निज़ात मिलने को है। लड़कियों की बातचीत में इसके संकेत एकदम साफ हैं, 'दीदी, कल आप कॉलेज नहीं चले। आज चलोगे ? मोहिनी दीदी तो आए थे।' अब यह नहीं कहा जाता कि मोहिनी दीदी आई थीं। हम गए थे, हम आए थे, हम आपका इन्तजार करते रहे, ऐसा कहा जा रहा है। हम आपका इन्तजार करती रहीं, ऐसा नहीं कहा जाता।

संस्कृत द्वारा किया गया हिन्दी का प्रतिरोध अधिक दिन नहीं चला। उसमें आक्रामकता भी नहीं थी लेकिन उर्दू से जो प्रतिरोध करवाया गया वह लम्बे समय तक चला। उसमें आक्रामकता भी थी। इसका कारण यह था कि इसे राजनीतिक शह मिली हुई थी। अँग्रेजों ने हर स्तर पर हर क्षेत्र में देश में फूट डालने की कोशिश की थी। शुरू में जॉन गिलक्राइस्ट और फोर्ट विलियम कॉलेज, कोलकाता के माध्यम से हिन्दी, उर्दू को दो अलग-अलग भाषाएँ माना गया। प्राथमिक शिक्षा के लिए दोनों में अलग-अलग किताबें छापी गईं। उन्हें पढ़ने वाली जातियाँ कौन सी होंगी, यह भी बताया गया। यह एक ऐसा घिनौना खेल था, जो अन्ततः इस देश के दो टुकड़े कर गया।

हिन्दी और उर्दू का डीएनए एक ही है। दोनों में संरचनात्मक एकता है। लिपि की भिन्नता और शब्द समूह की थोड़ी–बहुत भिन्नता भाषाओं की तुलना करने में निर्णायक नहीं होती। आजादी के पूर्व हिन्दी और उर्दू को अलग-अलग बताने वालों के उद्देश्य और प्रयत्न ही नहीं, समझ भी भाषा वैज्ञानिक नहीं थी। वे तो सिर्फ अपना राजनीतिक उल्लू सीधा करना चाहते थे। उन्हें सफलता भी मिली। पाकिस्तान बना। वहाँ भी उन्होंने भाषा वैज्ञानिक समझ का परिचय नहीं दिया। उर्दू, जो पाकिस्तान में बोली ही नहीं जाती थी, पाकिस्तान की राष्ट्रभाषा बना दी गई। इसका खामियाजा उन्हें पूर्वी पाकिस्तान को खोकर उठाना पड़ा।

हिन्दी की संरचनात्मक एकता जितनी उर्दू के साथ है उतनी उसकी अपनी कई बोलियों के साथ भी नहीं है। यह अकारण नहीं है। हिन्दी के पाठक को मीर, फ़ैज़, फ़िराक़ की भाषा प्रायः जितनी जल्दी समझ में आती है, उतनी मैथिली के विद्यापति, अवधी के जायसी या तुलसी की नहीं। 'साये में धूप' के कवि दुष्यंत की ग़ज़लें जितनी हिन्दी की हैं, क्या उतनी ही उर्दू की नहीं लगतीं?

बीती सदी के मध्य के कुछ दशकों में हिन्दी, उर्दू के बीच जो तलवारें खिंची हुई थीं, वे अब म्यान से भी निकाल कर दूर फेंकी जा चुकी हैं। हिन्दी की एम.ए. कक्षाओं में उर्दू साहित्य और उर्दू की एम.ए. कक्षाओं में हिन्दी साहित्य पढ़ाया जा रहा है। हिन्दी के कवि त्रिलोचन की दृष्टि में तो उर्दू कवि ग़ालिब अपनों से भी ज्यादा अपने हैं- 'ग़ालिब गैर नहीं हैं, अपनों से अपने हैं।'

उर्दू भारत की भाषा है। भारत की भाषाओं की आठवीं अनुसूची में शामिल है, जिसमें अँग्रेजी शामिल नहीं है।

संस्कृत, उर्दू और तमिल से करवाया गया हिन्दी विरोध शांत हुआ तो हिन्दी को लगा होगा कि अब उसके अच्छे दिन आ गए। पर अच्छे दिन इतनी जल्दी कहाँ आते हैं? हिन्दी के सामने अब अँग्रेजी की शातिर चुनौती है। चालें चुपचाप चली जा रही हैं। उच्च वर्ग और नौकरशाही नहीं चाहती कि जनता को सत्ता में वास्तविक हिस्सेदारी मिले। वह तो चाहती है- जनता मतदान करे और भ्रम में बनी रहे कि वही मालिक है। सत्ता को जनता से भिन्न होना और भिन्न दिखना ही पसंद होता है। सत्ता की भाषा जनता जैसी हुई तो वह काहे की सत्ता? जनता हिन्दी बोलती थी। बोलती रही। पर सत्ता की भाषा संस्कृत, फिर फारसी, फिर अँग्रेजी हुई। कई छोटे रजवाड़ों में भी राजकाज की अलग भाषा थी। अँग्रेजी को 1967 में ही हमने अभयदान दे दिया था कि वह अनिश्चितकाल तक हमारे गणतंत्र में राज करती रहे। हमारी सरकारें नर्सरी से लेकर बड़ी कक्षाओं तक छात्रों को अँग्रेजी माध्यम से पढ़ाना चाहती हैं। स्नातक कक्षाओं में हिन्दी को वैकल्पिक बनाने का खेल शुरू हो चुका है। गाँवों में अँग्रेजी माध्यम के सरकारी स्कूल खोलने की तैयारी है।

बच्चों की सारी ऊर्जा अँग्रेजी पढ़ने में खर्च हो रही है। उनके हाथ न अँग्रेजी आयेगी और न अन्य विषय। भाषा ज्ञान नहीं होती, ज्ञान तक पहुँचने का माध्यम होती है। व्यक्ति का अधिकार एक भाषा पर होना चाहिए। थोड़ी-थोड़ी गति सब भाषाओं में होने से तो व्यक्ति दुभाषिया बन सकता है ज्ञानवान नहीं। बिल गेट्स सिर्फ एक भाषा अँग्रेजी जानते हैं।

अँग्रेजी की गुलामी के हमारे संस्कार आज भी सिर उठाते रहते हैं। हम चाहते हैं कि हमारे बच्चे अँग्रेजी बोलें। हमारी चमड़ी अँग्रेजों जैसी गोरी हो। अपनी इन दोनों इच्छाओं को पूरा करने पर हमारी गाढ़ी कमाई का पैसा पानी की तरह बह रहा है। हम न अँग्रेजी बोल पा रहे हैं और न हमारी चमड़ी गोरी हो पा रही है।

पंजाब जैसे उन्नत राज्य में दसवीं में अस्सी हजार बच्चे अँग्रजी में फेल हुए तो वहाँ शिक्षामंत्री ने शिक्षकों का अँग्रेजी में टेस्ट लिया। सिर्फ एक ही शिक्षक पास हो पाया (दैनिक भास्कर, 26 जून 2015)। हम अनुमान लगा सकते हैं कि राजस्थान, मध्यप्रदेश, बिहार, उड़ीसा, छत्तीसगढ़ आदि में अँग्रेजी की पढ़ाई की क्या स्थिति होगी?

यह भ्रम फैलाया जा रहा है कि अगर देश की भाषा अँग्रेजी हो जाए तो देश में समृद्धि आ जाएगी। ध्यान देने की बात है कि दुनिया के सबसे समृद्ध देशों में शासन-प्रशासन और शिक्षा वहाँ की मातृभाषा में होती है; जैसे जर्मनी, चीन, फ्रांस, जापान, रूस, इजराइल आदि। केवल चार देश की भाषा अँग्रेजी है। वह इसलिए कि अँग्रेजी ही उनकी मातृभाषा है। संसार के सबसे गरीब देशों में से 18 की भाषा उनकी मातृभाषा नहीं, बल्कि अँग्रेजी है। अफ्रीका के राष्ट्रों की भाषा उनकी मातृभाषा की जगह अँग्रेजी या फ्रांसीसी है। इन राष्ट्रों की आर्थिक बदहाली सारी दुनिया जानती है।

चीन की मंदारिन के बाद हिन्दी संसार की सबसे अधिक जनसंख्या वाली भाषा है। वह बिहार, झारखंड, छत्तीसगढ़, मध्यप्रदेश, राजस्थान, उत्तरप्रदेश, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश और उत्तराखण्ड की राजभाषा है। अण्डमान निकोबार, चण्डीगढ़, दादर-नागर हवेली, दमन-दीव और दिल्ली में उसकी हैसियत राजभाषा की है। भारत के बाहर फिजी में दो अन्य भाषाओं के साथ वह वहाँ की राजभाषा है। अँग्रेजी भक्तों को भला यह कैसे सुहा सकता है कि संख्या बल में ही सही अँग्रेजी, हिन्दी से नीचे हो। इसलिए अवधी, बुन्देली, ब्रज, भोजपुरी आदि को वे हिन्दी में शामिल नहीं करते। वे इन्हें हिन्दी नहीं मानते। दरअसल खड़ी बोली, बुन्देली, भोजपुरी, मालवी, निमाड़ी, मेवाड़ी, ब्रज, अवधी आदि मिल कर ही तो हिन्दी है। ये सब हिन्दी के मोहल्ले हैं। इब्राहीमपुरा, एम.पी. नगर, अरेरा कॉलोनी, निराला नगर आदि मिलकर ही तो भोपाल है। इन मोहल्लों के बिना भोपाल कहाँ होगा? शायद ही किसी देश ने अपनी किसी भाषा को राजभाषा के संवैधानिक सिंहासन पर बैठा कर उसका निरंतर ऐसा अपमान किया हो। राम को 14 साल का वनवास मिला था। हिन्दी को अनिश्चितकाल का वनवास दिया गया है। सामाजिक

क्षेत्र में अँग्रेजी हमारे पढ़े-लिखे होने का सबूत और हैसियत की भाषा है। और हिन्दी? उसे सब बोलते हैं। वह सबकी है। जो सबकी हो वह विशेष कैसे हो सकती है? इधर एक नया मुहावरा प्रचलित हुआ है। काम बिगड़ने, बेइज्जत करने को हिन्दी होना कहा जाने लगा है—'मेरा तो सारा काम हिन्दी हो गया।' और 'उसने तो सबके सामने मेरी हिन्दी कर दी।'

एक विषय के रूप में अँग्रेजी पढ़ना अच्छी बात है पर देश के कामकाज पर, देश के बोलने पर उसे थोपने से काम बिगड़ता है। सन् 1981 की जनगणना में देश के 2 लाख 2 हजार 400 लोगों की प्रथम भाषा अँग्रेजी थी। 2001 में यह संख्या 2 लाख 26 हजार 449 हो गई। बीस साल में सिर्फ 24 हजार लोग बढ़े। ऐसे में अँग्रेजी के सहारे 'सबका साथ सबका विकास' कैसे सधेगा?

अँग्रेजी नियुक्ति, पदांकन, पदोन्नति का अघोषित आधार बनी हुई है। हमारा सिनेमा और हमारी क्रिकेट, खाते हिन्दी का हैं और बजाते अँग्रेजी का हैं। हिन्दी के धाराप्रवाह भाषण सारे देश में सुने, समझे, सराहे जाते हैं। चुनावों में जीत दिलाते हैं, फिर भी हमारी रट है कि अँग्रेजी देश को जोड़ती है।

जब तक दीया तले अँधेरा है, संयुक्त राष्ट्र में हिन्दी को मान्यता मिलना मुश्किल है। विदेशी राजनयिक भारत में अपनी पदस्थापना के पूर्व यथासंभव हिन्दी सीख कर भारत आते हैं। भारत में उन्हें हिन्दी का माहौल गायब मिलता है तो वे हिन्दी भूल जाते हैं। विदेशियों को शिकायत है कि वे हिन्दी में मेल भेजते हैं, भारत उन्हें अँग्रेजी में उत्तर देता है।

हिन्दी के साथ उसकी लिपि देवनागरी को भी आलोचना का शिकार होना पड़ा है। भाषा स्वाभाविक होती है, लिपि कृत्रिम। बोलने को बच्चा खुद सीखता है, लिखना उसे हाथ पकड़ कर सिखाया जाता है। इसलिए भाषा में तो प्रयत्नपूर्वक परिवर्तन नहीं किया जा सकता है, लिपि में किया जा सकता है। नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन आदि के प्रयत्नों के बाद 1953 में उत्तरप्रदेश शासन ने भी देवनागरी सुधार का काम किया। उसके कई सुधार स्थायी साबित हुए। वे आज भी प्रचलन में हैं। जैसे अ, ण को ही मान्य किया गया है। इनके दूसरे रूपों को नहीं। कुछ लिपि चिह्नों की बनावट को बदल कर उन्हें असंदिग्ध बनाया गया है। अब ख, ध, भ ही प्रचलन में हैं। इनके अन्य-पुराने रूप अब भुला दिए गए हैं।

देवनागरी में कमियाँ हैं। वह ध्वन्यात्मक नहीं, अक्षरात्मक हैं। कहीं-कहीं तीन मंजिला इमारत जैसी है। इ की मात्रा कभी-कभी अपने उच्चारण क्रम में जैसे चन्द्रिका में बहुत पहले लगाई जाती है। लेकिन कमियाँ तो संसार की हर लिपि में हैं। रोमन में लिखने के हमारे प्रयत्नों ने हमें कम नुकसान नहीं पहुँचाया है। हमारे शब्दों के न सिर्फ उच्चारण भ्रष्ट हुए हैं बल्कि अर्थ का अनर्थ भी हुआ है। बुद्ध, कृष्ण, योग, गुप्त, मिश्र, शुक्ल जैसे अकारान्त शब्द आकारन्त कर दिए गये हैं। मैथिलीशरण गुप्त, द्वारिकाप्रसाद मिश्र, रामचन्द्र शुक्ल, जैसे कुछ व्यक्ति ही गुप्त,

मिश्र, शुक्ल बने रह पाये हैं। कृष्णा का अर्थ कृष्ण नहीं, द्रौपदी होता है। उपन्यासकार चेतन भगत का तर्क है कि रोमन को अपनाने से हिन्दी को आधुनिक तकनीक का फायदा मिल जाएगा। यह तो देह को कपड़े के नाप का बनाने का सुझाव है। आधुनिक तकनीक का जन्म पश्चिम में हुआ। स्वभावतः उसकी पहली अभिव्यक्ति रोमन लिपि में हुई। अब इंटरनेट पर अन्य लिपियों और भाषाओं का प्रयोग भी बढ़ रहा है। सन् 2000 में इंटरनेट पर 80 प्रतिशत जानकारी अँग्रेजी और रोमन में उपलब्ध होती थी। अब वह प्रतिशत 40 से भी कम है। देवनागरी में टंकण की कई समस्याओं को कम्पनियाँ तेजी से सुलझाती जा रही हैं। देवनागरी फोण्ट्स पर लाखों लोगों के हाथ तेज गति से दौड़ रहे हैं। माइक्रोसॉफ्ट कम्पनी ने माना है कि भारतीय व्यापार का 95 प्रतिशत अब भी भारतीय भाषाओं और भारतीय लिपियों में हो रहा है। स्पष्ट है कि अँग्रेजी और रोमन लिपि के वर्चस्व की संभावनाएँ सिकुड़ रही हैं। हिन्दी के संदर्भ में निराशा धीरे-धीरे छँट रही है। हम जानते हैं कि अन्ततः राम की ही विजय हुई थी। गैर भाषा वैज्ञानिक सोच और निहित स्वार्थों के बावजूद अगर हिन्दी अँग्रेजी से जीतती है तो वह सिर्फ उसकी नहीं भोजपुरी, अवधी, ब्रज, बुन्देली, मालवी, राजस्थानी आदि तमाम क्षेत्रीय बोलियों और संस्कृत, उर्दू सहित तमाम भारतीय भाषाओं की अस्मिता की जीत होगी। आखिर इन सबने ही तो हिन्दी की जड़ों को मजबूती दी है।

20, इन्दिरा नगर,
रतलाम 457001

राष्ट्र के पुनरुत्थान में भारतीय भाषाओं और साहित्य का योगदान

—बलवंत जानी

राष्ट्र भावना में राष्ट्र के प्रति प्रेम प्रकट होता है, भाषा के माध्यम से। भाषा और राष्ट्र का संबंध नाभि-नाल जैसा संबंध है, मज्जागत संबंध है। इस तरह राष्ट्र की पहचान, राष्ट्र का अस्तित्व और अस्मिता भाषा है। पाकिस्तान ने पूर्व पाकिस्तान में उर्दू का दुराग्रह रखा और बांग्लाभाषाप्रेमी प्रजाजन अलग हो गए। बांग्लादेश का जन्म हुआ। आप लोगों को भाषा से दूर नहीं कर सकते हैं। भाषा से दूर करने में कोई समर्थ नहीं है। पाकिस्तान में साठ साल के बाद भी गुजराती, हिन्दी, सिंधी भाषाओं को बोलचाल के व्यवहार में से प्रजा को अलग नहीं किया जा सका है।

बृहद भारत में से अलग हुए, पृथक हुए राष्ट्र की भाषा का मूल तो आज भी इन्डो-आर्यन अथवा इन्डो-द्राविडीयन माना जाता है। अभ्यास में उसका ही उल्लेख किया गया है। उन सभी राष्ट्र को अलग राष्ट्र का नामाभिधान प्राप्त हुआ लेकिन उनमें से सांस्कृतिक व्यवहार, आचरण, वाणी का लहजा अलग नहीं हुए हैं। विश्व के अभ्यासुओं आज भी उस राष्ट्र को पान इन्डियन कंट्रीज़ के रूप में पहचानते हैं, बुलाते हैं। भाषा केवल जोड़ती है उतना ही नहीं बल्कि उसके कारण ही भाव को, मान्यता को शाश्वत और स्थायी रूप प्राप्त होता है।

भाषा में मोड़ आते हैं, परिवर्तन होते हैं, उसमें कुछ जुड़ता है, छंटनी होती है लेकिन वह कभी लुप्त नहीं होती है। बोलियाँ- समूह में व्यक्त होती हैं, विस्तार में व्यक्त होती बोलियाँ एक दूसरे में परस्पर मिल जाती हैं। भाषाविज्ञान के अध्ययनकर्ता बोलीविज्ञान और भाषा भूगोल जैसी परिभाषा से उनका विशेष अध्ययन करते हैं। इस तरह भाषा और भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त होते संवेदना भाव विश्व का राष्ट्र की एकता में - अखंडता में बहुत बड़ा योगदान है। इस विभावना और विचार के समर्थन में दो सांस्कृतिक दृष्टांतों के साथ मैं मेरे विचार प्रस्तुत करने का प्रयास करूँगा।

तेरहवीं-चौदहवीं सदी में भारत में मुस्लिमों का आगमन हुआ। क्रमशः शासक बनते गए। शासन प्रणाली स्थापित हुई। वे अपने साथ इस्लाम के प्रचार-प्रसार के लिए धर्मगुरुओं को लेकर आए थे। भारत में इस्लाम का प्रचार-प्रसार करने के लिए इन धर्मगुरुओं - उपदेशकों ने यहाँ की समाज व्यवस्था, जाति प्रणाली, धर्मश्रद्धा, क्रियाकांड और साहित्य का अत्यंत गहराई से अध्ययन किया, समझा। हिन्दू धर्म, समाज और साहित्य से अनुप्राणित व्यवस्था की स्थापना

की। इसके लिए गुजरात के लोहाणा समाज में से इस्माइली खोजा, ब्राह्मण में से वोरा, क्षत्रिय में से मौसेसलाम, पटेल में से मुमना, बारोट में से मीर, और भरवाड में से मतवा जैसे मुस्लिम समुदाय अस्तित्व में आए। आज सात सौ साल के बाद भी इस प्रजा-समुदाय को हम मुस्लिम मानते हैं लेकिन यह वोरा, खोजा, मोलेसलाम, मीर, मतवा में हिन्दू संस्कृति के घटक अस्तित्व में हैं। उनमें शुरापुरा हैं, चौपडा पूजन करते हैं, नैवेद्य चढ़ाते हैं, छेड़ा-छेड़ी प्रथा है, नारियल चढ़ाते हैं। मतवा तो गाय की पूजा करते हैं, उसे तिलक करते हैं, दूध गिरने पर उसे सिर पर चढ़ाते हैं। मतवा में एक दिन अमावस्या के दिन दूध बेचते नहीं हैं, बाँट देते हैं, बछड़े को पिला देते हैं।

खोजा, वोरा की भाषा गुजराती है। उनकी लिपि अरबी नहीं है, खोजकी, फारसी है। इस्लाम के साहित्य रूप गज़ल नहीं लेकिन गिनान, नसीहत, कशीदा ऐसे नामकरण हुए। उनके गिनान तो उस समय पीर हसन कबीर, सद्गुरु, नूर, नूर सतागर, पीर शम्स आदि ने गुजराती भाषा में रचे थे। आज इस्माइली खोजा पूरी दुनिया में फैले हुए हैं लेकिन गुजराती गिनान का गुजराती में सुबह-शाम पठन करते हैं। लिपि राष्ट्र के अनुसार अंग्रेजी, फ्रेंच कोई भी हो, लेकिन मूलभूत गुजराती में गठित धर्ममूलक पद-गिनान गाए जाएँगे। उसकी लिपि देवनागरी हो, गुजराती हो या कोई भी हो वोरा उपदेशकों ने अपनी वाणी में शाश्वत भाव और सनातन सन्देश को स्थान दिया है।

''सजावो छो आ जिसमने, झर ने झवेरथी
जरा विचार तो करो एनी खस्ता हालत पर;
कबरनी गोरमां अंधारमां एने कीड़ा खाशे''

भाषा भारतीय, संस्कार विरासत भी भारतीयता के। इस्लाम के थोड़े अभिगम-घटकों का संयोजन-मिश्रण-फ्यूज़न इन धर्मांतरित मुस्लिमों के भाषा साहित्य में आज तक बचा हुआ है। इन सभी कथित मुस्लिम समूहों के बीच रोटी-बेटी का व्यवहार नहीं है। उनमें मस्जिद के बदले जमातखाना होता है। वे नमाज नहीं दुआ पढ़ते हैं। वे सलामालेकुम नहीं लेकिन या अली मदद बोलते हैं। भाषा का यह मज्जागत संबंध है। भाषा के पुनरुत्थान में धर्मांतरित होकर भी आज तक हमारी भाषा, हमारे संस्कार विरासत का, हमारी साहित्य परंपरा का जतन - संरक्षण करने वाली इस प्रजा के साथ हमारा पुराना - भाषा संबंध पुनर्जीवित करके राष्ट्र में एकात्मकता और एकता के ताने-बाने बुनने के लिए उद्युक्त होना पड़ेगा।

दूसरा दृष्टांत भाषा-साहित्य की सुदीर्घ परंपरा के संदर्भ में है। सत्रहवीं शताब्दी तक संस्कृत का अधिक प्रभाव चला और कवि जगन्नाथ तक संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा अक्षुण्ण और अविरत रूप से प्रवाहित होती रही। लेकिन सत्रहवीं शताब्दी के बाद प्रादेशिक भाषाओं का प्रभाव अधिक प्रबल रहा, भाषा रूप बदला। इसका अर्थ यह नहीं है कि हिन्दुस्तान अलग-अलग

भाषाओं में विभाजित हो गया था। वास्तव में प्रादेशिक भाषा में संस्कृत अनुप्राणित काव्यशास्त्र के ग्रंथों का गठन होने लगा था। जगन्नाथोत्तेर भावमय प्रादेशिक भाषाओं के काव्यशास्त्र के अवलोकन से पता चलता है कि नवीनतम, अनूठे प्रादेशिक बल उभरने लगे थे और उनमें से भावमय प्रभाव की अनूठी मुद्रा उभरने लगी।

प्रादेशिक भाषाओं के उच्चारण, कथन, वर्णनभात के लिए उपकारक, प्रेरक पोषक वर्णनकला के, अभिव्यक्ति के उपकरण प्रकट होने लगे और एक वैकल्पिक काव्यशास्त्र, ''ऑल्टरनेटिव पोएटिक्स'' का गठन हुआ। उसमें चारणी काव्यशास्त्र का हिस्सा महत्त्वपूर्ण है। राजा-रजवाड़ों में दरबारी कवि काव्यपाठ द्वारा आजीविका प्राप्त करने लगे। नाद, लय, बुलंद छटा से प्रस्तुति का कौशल प्रकट होता गया। कच्छ में राजा ने ''राओ लखपत ब्रजभाषा काव्यशाला'' स्थापित की थी। उसमें पश्चिम भारत के कई हिस्सों से चारण, बारोट, और जैन अध्ययन हेतु प्रवेश प्राप्त करके कविपद प्राप्त करते। ऐसी पाठशाला-काव्यशाला में दी जाती काव्यशिक्षा के लिए काव्यशास्त्र के ग्रंथों की रचना हुई। उनकी हस्तलिपियाँ (पांडुलिपि) प्राप्त हैं। उनमें से कईयों का तो संपादन भी हुआ है। गुजरात में भी 'रण पींगल' आदि ग्रंथ, राजस्थान के 'रघुनाथ दीपक गीत रो' का तुरंत स्मरण होता है।

वास्तव में इस जगन्नाथोत्तेर काव्यशास्त्र का अध्ययन करके हमारी एकता, अखंडता और मूल्य प्रादेशिक रवैयों में से प्रकट होती भारतीयता का परिचय देकर राष्ट्र को अखंड बनाए रखने वाले, चैतन्यशील प्रवाहित रखनेवाले धड़कता रखने वाले कारकों का विवरण विगत रखकर राष्ट्र को तोड़ने वाली विचारधारा को और उसके आधार पर खंडनात्मक गतिविधि को तर्कपूर्ण रूप से परास्त करना आज की अनिवार्य आवश्यकता है।

समाज में आज दिन तक अनुरक्षित सनातन विवरण और साहित्य परंपरा में से प्राप्त होती यह महत्वपूर्ण सामग्री मेरे विचार से राष्ट्र के पुनरुत्थान में भाषा और साहित्य का कितना प्रबल और प्रभावक योगदान है, उसका उज्जवल उदाहरण है।

ऐसे संविवाद का आयोजन, उसमें प्रकट हो रहे अर्थपूर्ण विचार आखिर हमारे राष्ट्र को एकात्म रखने की गतिविधि में बहुत बड़ा प्रोत्साहन प्रदान करेंगे। इस उपलक्ष्य में मेरे विचारों को संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत करने का अवसर प्राप्त हुआ उसकी खुशी के साथ।

पूर्व कुलपति
हेमचंद्राचार्य उत्तर गुजरात युनिवर्सिटी,
पाटण, गुजरात
'तीर्थ', 264-जनकपुरी,
युनिवर्सिटी रोड, राजकोट-360005

साहित्यिक भाषा और कार्यालयीन भाषा

–गोपाल शर्मा

साहित्यिक भाषा सम्पूर्ण भाषा से कोई पृथक विलक्षण अभिव्यक्ति की रूप सज्जा नहीं होती। वह भाषा ही के महाकोश से सामग्री लेकर प्रयोजनों को सम्पन्न करती है और इस प्रक्रिया में उसका तरह-तरह से अभिकल्पन (पैटर्निंग) करती है जिसे काव्यभाषा, गद्यभाषा, समीक्षा की भाषा इत्यादि अभिधानों से वर्गीकृत किया जाता है। भवभूति द्वारा 'करुण' रस के बहाने जल के उद्‌वेलनों में निहित सकल (होलिस्टिक) सत्ता का वर्णन इसी तथ्य की ओर संकेत करता है।

एको रसः करुण एवं निमित्त भेदात्
भिन्नः पृथभिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्न बुदबुद तरंगमयान विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेवहि तत्समस्तम्।।

— उत्तर रामचरित

इस साकल्यवादी कथन के बावजूद समाज में साहित्यिक भाषा को सामान्य से कुछ शिष्ट एवं ऊँचे स्तर का माना जाता है। कारण यह है कि इस प्रकार की भाषा शिक्षित स्तर के प्रयोक्ता और लेखक यथावसर व्यवहार में लाते हैं। विभिन्न भाषाओं का क्रमिक इतिहास इस बात का साक्षी है कि भाषाओं में परिवर्तनों का सिलसिला चलता रहता है। उनके सामयिक रूपों के विरुद्ध संघर्ष होता है फिर कुछ वैचारिक और परिस्थितिक प्रभावों के कारण उनमें स्पार्थक बदलाव उत्पन्न होता है। कुछ समय और सामाजिक वैचारिक कशमकश के पश्चात फिर भी उसमें गंभीरता और कोशीय तथा संरचनात्मक सम्पन्नता प्रकट होती है।

भाषाओं और साहित्यों के इतिहास में आंतरिक और बाह्य प्रभावों के फलस्वरूप जो अनुभूतियाँ और चेतनाएँ उत्पन्न होती हैं वे कृतिकार के विषय प्रतिपादन, भाषिक उपकरणों के चयन और मुहावरों तथा सम्पूर्ण रचनात्मक गठन के सौष्ठव के रूप में रचना वैशिष्ट्य (diction) में नज़र आ जाती है। शिष्ट स्तर और सामान्य रसिकों में इस संबंध में भिन्न-भिन्न और कभी-कभी व्यतिरेकी प्रतिक्रियाएँ भी नज़र आती हैं और साहित्यिक भाषा विवादों का एक खासा अखाड़ा बन जाती है।

साहित्यिक भाषा का सबसे प्रधान लक्षण तो उसमें निहित लेखक की आत्मनिष्ठता है। यह आत्मनिष्ठता भी व्यक्तिगत मानस—संसार की जाई तो होती है किन्तु आज का मनोविज्ञान उसे सामाजिक व्यक्तित्व की सृष्टि ही मानता है। परिवेश और आत्मवत्ता की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप, कृति भाषिक संस्कारजन्य रूप ले लेते हुए रचनाकारों की अस्मिता रेखांकित करती है। इसके अतिरिक्त जो रचनाकार जितना अनुभव और चिंतन प्रगल्भ होता है रचना उतनी ही स्तरीय होती जाती है। संवेदनशील रचनात्मक प्रतिभा तरह-तरह से अभिव्यक्त होकर भाषा के अनेक स्तरों पर नए-नए पैटर्न (अभिकल्प) रचती है। उसका विवेचन हम भाव और कला पक्षों के अंतर्गत करते हैं।

भाषा और संस्कृति

भाषा का प्रश्न केवल उसके साहित्यिक रूप की चर्चा से सम्पन्न नहीं होता है। उसका संबंध सांस्कृतिक विकास से भी होता है। प्राचीन और मध्यकाल में इसकी चर्चा होती रही है कि समाज सुरुचिपूर्ण साहित्य एवं कलात्मक गतिविधियों में कितना समय बिताता है। ऋग्वेद में उल्लेख है—

(1) विद्व-मंडली में किसी-किसी की प्रतिष्ठा है कि वह उत्तम भाव ग्राही है और उसके बिना कोई कार्य नहीं हो सकता। ऐसे लोगों के कारण ही वेदार्थ ज्ञान होता है। कोई-कोई असार वाक्य का प्रयोग करते हैं।

'भाषा सूक्त'

(11) जैसे चलनी से सत्तू को परिष्कृत किया जाता है वैसे ही बुद्धिमान लोग बुद्धि के बल से भाषा को परिष्कृत करते हैं। उस समय विद्वान लोग अपने अभ्युदय को जानते हैं। विद्वानों के वचन में मंगलमयी लक्ष्मी निवास करती है।

'भाषा सूक्त'

इस संगोष्ठी में काव्यभाषा की चर्चा में उलझना ठीक नहीं होगा। हमारे समक्ष प्रतिसंदर्भ है कार्यालयीन भाषा का। इसकी चर्चा गद्य-विद्या को समक्ष रखकर करनी होगी। हिन्दी साहित्य के दायरे में आने वाले गद्य निबंध (द्विवेदी युग के) 1. विचारात्मक 2. विवरणात्मक 3. विवेचनात्मक 4. भावात्मक वर्गों में विभाजित किए गए थे। इस दौर में भाषा व्यवस्थित और परिनिष्ठित हुई थी। इससे आगे की अवस्था में कुछ तो अपनी आंतरिक प्रेरणा के फलस्वरूप और कुछ अंग्रेजी तथा बंगला के प्रभाव से भाषा की भावमयी या स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति का उदय हुआ। इसे हम हिन्दी की गद्य शैली का रोमांटिक उन्मेष भी कह सकते हैं।

(हिन्दी वाङ्मय बीसवीं शती-सं. डॉ. नगेन्द्र)

पं. रामचन्द्र शुक्ल इसे कल्पना प्रवण बंगभाषा का अनुकरण मानते थे। शुक्लजी ऐसे निबंधकार थे जिन्होंने केवल गद्य के स्वरूप को ही नहीं संवारा अपितु निबंध रचना को भी

सामान्य लेख के स्तर से ऊपर उठाकर साहित्य सर्जना के उच्च आसन पर प्रतिष्ठित किया। भारत की भाषाएँ एक लम्बे अर्से से अनेक क्रांतिक अवस्थाओं से गुजरती रही है। मुख्यतः वे शक्तिशाली शासकों द्वारा प्रोत्साहन पाकर पुष्पित भी होती रही हैं। हिन्दी का आरम्भ और विकास काल अनेक भाषिक विकास प्रक्रियाओं से संसाधित होता हुआ वर्तमान तक आया है। इसकी चर्चा आगे की गई है, प्रशासन की भाषा के प्रसंग में। कई मामलों में अर्थवत्ता में नवीन परिवर्तनों की घटनाएं भी हुई हैं। भृतहरि ने वाक्य पदीय में लिखा है :

लोकेडर्थ रूपतां शब्दः प्रतिपनः प्रवर्तते।
शास्त्रेतूभय रूपत्वं प्रविभक्तं विवक्षया।।

फलस्वरूप वाक्य विन्यास शब्दावली अभिव्यक्ति के पैटर्न एवं मुहावरे आदि में परिवर्तनों के कारण अनेक विवाद उत्पन्न होते रहे हैं और इन बदलावों के साथ सम्यक सांस्कृतिक तादात्मय करने में कठिनाइयों का अनुभव होता रहा है।

पश्चिमी देशों में साहित्यिक भाषा से तकनीकी भाषा अलग होती रही है। यह मानव मस्तिष्क की अपने भौतिक परिवेश को दो तरह से देखने की तार्किक परिणति है। शायद कापर्निक्स और गैलीलियो के समय में इस अलगाव की कोई विशेष चिंता नहीं की जाती थी परंतु विज्ञान के विकास और औद्योगिक क्रांति के साथ भारी संख्या में गैर-तकनीकी लोगों ने भाषा में एक नए मुहावरे के प्रचलन का अनुभव किया है। इस चिंतनात्मक बदलाव को पहले 'इंद्रिय यथार्थवादी' दर्शन का नाम दिया गया। कुछ समय बाद भाषा का नाम भी 'भौतिक वस्तुपरक भाषा' (फिज़ीकल थिंग लैंग्वेज) निश्चित किया गया।

इस नवीन मानसिक प्रतिक्रिया और उससे विकसित होने वाली भाषा का बड़े पैमाने पर असर जनसामान्य पर पड़ने लगा और दो अलग संस्कृतियाँ विकसित होने की आशंका हुई। यह बात विद्वानों के बीच वाद-विवाद का विषय बन गई। कुछ वर्ष पूर्व साहित्यिक-वैज्ञानिक सी.पी. स्नों ने इस विवाद की शुरुआत की। एल्डस हक्सले भी इसमें मध्यस्थ के रूप में आ गए। इन शास्त्रीय विवादों के बावजूद, विज्ञान की अटपटी भाषा ने व्यावहारिक बोलचाल और साहित्य में धीरे-धीरे प्रवेश कर लिया है। बड़े नगरों और कस्बों में अर्धकुशल कामगार, मजदूर की व्यवसाय प्रधान शब्दावली में अब परम्परागत शब्दों का स्थान अंग्रेजी के शब्दों ने ले लिया है। आप 'पेंच' कहते रहिए वह 'स्क्रू' ही कहेगा। मोची तले को 'सोल', नलसाज अपने को 'प्लम्बर' कहना सम्मानजनक मानता है। सदियों से चले आ रहे 'इस्तहाजाते' पेशेवरान का नाम अब बहुत कम लोगों ने सुना होगा।

इस संस्कृति का एक और प्रभाव शिक्षितजनों के वार्तालाप पर अद्‌भुत नवसर्जनाओं के रूप में पड़ा है–उदाहरणार्थः–

(1) दो वेवलन्थों पर विचार करना (विचारों की भिन्न धारा)

(2) रासायनिक साम्य (केमिकल एफीनिटी)
(3) बिल्टिइन मेकेनिज्म (अंतनिर्मित अभियंत्रणा)
(4) वाइटल स्टेटिस्टिक्स (आंशिक सांख्यिकी)

इनके अतिरिक्त समाचार पत्रों में भी यह आपने पढ़ा होगा :

ब्रिटिश संसद में कभी-कभी कोई प्रश्न प्रतिक्रिया शृंखला (चेन रिएक्शन) शुरू कर देता है।

आजकल वहाँ अर्थव्यवस्था भी आउट आफ गियर हुई नज़र आती है।

इन परिस्थितियों में साहित्यिक सामाजिक वर्ग का संस्कृति के तकनीकी प्रदूषण पर आक्रोश उचित ही प्रतीत होता है।

किन्तु इसका क्या किया जाए? आज यदि आप चार्टर्ड बस में दफ्तर आ रहे हैं या घर लौट रहे हैं तो अधिकांश साथी अफसरों के वार्तालाप की प्रकृति नवीन सांस्कृतिक भाषा शैली से अनुरंजित मिलेगी—(अपने स्टाप पर उतरने तक)

स्वामिनाथन, बलेचा से

बलेचा वह प्रेषण (कनसाइनमेंट) विलंब शुल्क/डिमरेज के भुगतान न होने के कारण रुका हुआ है।

बलेचा

जब तक सीमा-शुल्क की मंजूरी मुख्यालय से प्राप्त नहीं होती मैं कुछ नहीं कर सकूँगा।

पंजवानी, मुकर्जी से

मैंने गृह मंत्रालय के समक्ष फाइल हस्ताक्षरों के लिए प्रस्तुत कर दी है। कल तक तो वे कटौती प्रस्ताव में व्यस्त हैं।

मुकर्जी

तो मैं कल आकस्मिक अवकाश ले लूँगा। कनॉट सर्कस में सेल लगी है, पत्नी को वहाँ ले जाना है।

प्रातःकालीन और सांयकालीन सम्पूर्ण यात्रा में आपको ऐसी ही तथा पदोन्नति एवं महँगाई भत्ते से संबंधित बातचीत सुनने को मिलेगी। सरकारी बस्तियों में भी अधिकांश यही घनिष्ट अनौपचारिक 'टॉपिक ऑफ डिसकोर्स' होता है।

वैज्ञानिक संस्कृति तो फिर भी शैक्षिक और ज्ञानात्मक होती है किन्तु यह कार्यालयीन संस्कृति की भाषा है, 'प्रयुक्ति' है। 'प्रयुक्ति' अंग्रेजी शब्द 'रजिस्टर' के विशिष्टार्थी पर्याय के रूप में ग्रहण किया गया है। हैलिडे (1965) ने 'रजिस्टर' शब्द के इस विशिष्ट अर्थ में व्याख्याएँ की हैंः भाषा समुदाय में विभिन्न वर्ग विभिन्न बोलियाँ बोलते हैं। एक अन्य दिशा में भी भाषा के विभिन्न रूपों की चर्चा की जा सकती है—प्रयोग भेद की दिशा में। भाषा के, विभिन्न

स्थितियों में स्वतः भेद आ जाते हैं। इन्हें (रजिस्टर) प्रयुक्ति नाम दिया गया है। धर्म के सिलसिले में आप कर्मकांड से नहीं बच सकते और सचिवालय एवं विभागों से काम पड़े तो इसे ही उपनिषद की भाषा स्वीकार करना पड़ेगा।

(लिंग्विस्टिक साइन्स एंड लेंगवेज टीचिंग–लांगमेन्स पृ. 101, 130)

संविधान के पूर्व और पश्चात

उत्तर रीतिकाल में भिखारी दास ने विकासमान हिन्दी की भाषिक सौंदर्यपूर्ण स्थिति का जो चित्र खींचा है उसी प्रकार का 'हिन्दी संबंधी चित्र' स्वाधीन भारत में लगभग 1956 से 1965 की अवधि में निर्मित हो गया था।

ब्रजभाषा, भाषा रुचिर कहै सुमति सब कोई
मिलै संस्कृत पारस्यो पै अति प्रकट जुहोई
ब्रज मागधी मिलै अमर नाग पवन भाखानि।
सहन पारसी हूं मिले षट्विधि कहत वरननि।।

उस कालावधि में भारत की भाषिक समस्याओं का हल खोजने तथा भारत सरकार के स्तर पर कार्यान्वित करने के उद्देश्य से योजनाएँ प्रस्तावित करने हेतु राजभाषा आयोग की रिपोर्ट आ गई थी।

विविध रूपा

हिन्दी राष्ट्रभाषा से सम्पर्क भाषा कही जाने लगी थी और संविधान के अनुच्छेद 343 (1) की व्यवस्थानुसार राजभाषा का दर्जा मिल गया था। राष्ट्रीय नवोन्मेष की परिस्थितियों में साहित्यिक भाषा के ऊपर राजनीति और पत्रकारिता की भाषा तो हावी हो ही गई उसने एक और साहित्य की मानवीय संवेदनाओं को अधिकार और अर्थ से जोड़ दिया। फलस्वरूप साहित्यिक भाषा के तेवर तेजी से बदलने लगे। महात्मा गांधी, पंडित नेहरू ने सामासिक संस्कृति की संकल्पना को परिपुष्ट करने के लिए हिन्दुस्तानी को साहित्यिक भाषा के विकल्प के रूप में समर्थन दिया। हिन्दुस्तानी कल्चर सोसाइटी (पंडित–सुंदरलाल) और उनके वर्ग ने मुंशी प्रेमचंद की सहज प्रसंग परिवेश और पात्रोचित भाषा से भिन्न एक कृत्रिम रचनात्मक प्रयोगों वाली शैली को प्रचारित करने का यत्न किया जो अपनी जड़ नहीं जमा सकी।

आज हमारी भाषाएँ साहित्योन्मुखी कम है और अन्य व्यवहार क्षेत्रों में अंग्रेजी का दामन पकड़े-पकड़े आगे बढ़ने की कोशिश में लगी हैं। अंग्रेजी स्वयं अमेरिकन के पीछे घिसटती जा रही है। भारतीय जीवन में भाषाएँ प्रधानतः सम्प्रेषण के तीन महत्वपूर्ण आयामों में अग्रसर हो रही हैं।[1]

वैज्ञानिक–प्रौद्योगिक, राजनैतिक–प्रशासनिक, आर्थिक एवं मुक्त बाजारात्मक

इन्हीं तीन नवसांस्कृतिक आयामों के बीच साहित्यिक भाषा, विज्ञापनों, संचार माध्यमों, और प्रशासकीय व्यवहारों में अपनी अस्मिता में खंडित टुकड़ों को बटोरती रहती हैं।

सन् 1963 में एल्डस हक्सले ने इस विवाद में मध्यस्थता करके लोगों को शांत किया था। अमेरिकी प्रशासन ई.टी.सी. (E.T.C.) में प्रकाशित कविताओं में से उपयुक्त विभाजन का एक नमूना ही पर्याप्त है जो साहित्य के क्षेत्र में विज्ञान के प्रवेश का आस्वाद कराता है :—

A protoplasmic numb
sparked from the centre
becomes phenomenon
that walks and talks
And sometime thinks!
A man, the living spark,
has sprung from the choas.
At the last moment
I learned to believe in failure
but only on a galatic scale
of burned out spernovae.
Elsewhere among the carbon compounds
where our love affairs gocs on
the sweet kiss of dialectics
keeps whispering.

-Walter. L

कार्यालयीन भाषा

कार्यालयीन भाषा से मैंने प्रशासन की भाषा का वह पक्ष लिया है जो 'सामान्य प्रशासन' के क्षेत्र में व्यवहार में आता है। आज का प्रशासन ही क्या कौटिल्य के युग का प्रशासन भी जनजीवन एवं जन संस्कृति, वैयक्तिक कार्य व्यापार आदि के क्षेत्र में अनेक दृष्टियों से नियमन किया करता था। अर्थशास्त्र में पत्राचार, संबोधन, कार्यप्रणाली, दण्ड आदि सभी का सविस्तार वर्णन प्राप्त होता है।

कार्यालयीन भाषा का विवरण फिलहाल तीन चुने हुए युग खंडों में करना पर्याप्त होगा :—

प्रथम

अर्थशास्त्र में लेख्यों (लिखित व्यवस्था) को बहुत महत्त्वपूर्ण माना है अतएव, प्रारूपण और टिप्पणी लेखन की उच्चस्तरीय योग्यता प्राप्त व्यक्ति की नियुक्ति 'लेखन' पदनाम से की

जाती थी। वह मंत्री के समान ही माना जाता था। अपेक्षा की जाती थी अन्य योग्यताओं के अतिरिक्त उसे यह ज्ञात होना चाहिए कि प्रत्येक लेख्य में 6 गुण होना आवश्यक हैः—
(1) अर्थक्रम (2) संबंध (3) परिपूर्णता (4) माधुर्य (5) औदार्य और (6) स्पष्टता

इसी प्रकार अर्थशास्त्र में पत्राचार के तेरह प्रकारों का निर्देश किया गया है, उनमें से लगभग सभी आज भी प्रयोग में आ रहे हैं। इसी तरह राजलेख आठ प्रकार के निश्चित किए गए हैं उनमें से कुछ हैं :—

प्रज्ञापना, आज्ञा, परिहार, निसृष्टि, सर्वत्रग आदि।

द्वितीय

भारत के मुगलकालीन शासन में इस तंत्र का विकास होता है—इसका यह आशय न लिया जाए कि इस अंतराल में संस्कृत ही पूर्ण रूपेण शासनों पर छाई रही। लोक भाषाओं में राज व्यवहार होता रहा। अशोक के शासन में पाली के अतिरिक्त अन्य स्थानीय भाषाओं के शिलालेख उपलब्ध होते हैं। तीर्थंकर महावीर के समय में भी अर्थ मागधी, शासन और साहित्य की भाषा रही।

मुगलकाल

संस्कृत यद्यपि कालांतर में महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक संयोजिनी प्रामाणिक भाषा हुई फिर भी लोक में और भक्ति साहित्य में उसकी लोकप्रियता कम होती गई। इसका आभास गोस्वामी तुलसीदास के इन वचनों से होता है 'कवित रसिक न रामपद नेहूं जिनकंह सुखद हास रस लेहू—भाषा भनित भोरिमति मोरी'...इनके अतिरिक्त विद्यापीठ का 'दोसिल बइना सबजन मिद्धा तैं बैसयं झपहों अवहट्टा' कहना भी देववाणी के प्रति क्षीण होते हुए प्रयोग का स्पष्ट संकेत देता है।

आइने अकबरी में उल्लेख है कि यथावश्यक छोटे राजवाड़ों के परामर्श के दौरान सम्राट और सामंतों के बीच तत्कालीन हिन्दी में ही बातचीत होती थी। इस दौर के विषय में कुछ जानकारी आज़ाद साहब के 'दरबारे अकबरी' से मिलती है। टोडरमल की जीवनी में उन्होंने लिखा है कि 'पहले हिसाब किताब का दफ्तर ठीक नहीं था... जहाँ हिन्दू नौकर थे वहाँ का काम हिन्दी में होता था और जहाँ विलायती नौकर थे वहाँ सब काम फारसी में होता था।..लेकिन राजा टोडरमल ने निश्चय किया कि समस्त भारत वर्ष के दफ्तर केवल फारसी भाषा में ही हो जाएँ...' किन्तु रजवाड़ों में ऐसा आमूलचूल परिवर्तन नहीं हो पाया।

जहाँगीर और शाहजहाँ के शासनकाल में हिन्दी का विस्तृत प्रयोग होता रहा। शासकीय कार्य के लिए सम्राट अकबर ने 'मैनुअल आफ प्रोसीजर' की तरह 'अमल दस्तूर' (शाही आज्ञाओं

का संकलन) तैयार करवाया था। जहाँगीर ने अपनी ओर से उसमें 12 नियम और जोड़ दिए थे। उसकी भाषा की एक बानगी इस प्रकार हैः—

1. 'ओर खुसामदी होई तस्यै प्यार न करिए किस वास्ते जु खुसामदी से सखुसी होई तसका काम न पूरा होई।

2. और गुसा की बखत अकील की डोरी हाथ स्यों न देही

3. सब धर्म से अतीत है तिन सब ही को प्यार राख'

मुगलकालीन शासन व्यवस्था में 'अमल दस्तूर' का कितना महत्त्व था और उसने प्रशासन में हिन्दी के प्रयोग को कितना प्रोत्साहन दिया था इसका विस्तृत वर्णन डॉ. रामबाबू शर्मा के 'बारहवीं सदी से राजकाज में हिन्दी' नामक शोध-ग्रंथ में दिया गया है।

मुगल शासन में कार्यालयीन पत्राचारों और पारिभाषिक शब्दों के रूप इस तरह के थे : अर्जदास्त, (अनुरोध) फरमान/अहकाम (आदेश) इनमें 'हस उल हुक्म' (तुलना) By order of viceroy आवश्यक था सुतुश अहलकारन (मातहतों की रपट), आवर्जा (राजस्व का लेखा), हसबुल खर्च (राजकीय व्यय) आदि।

ब्रिटिश शासन काल

मुगलों के शासन का अंत होते-होते अंग्रेजों ने अपना राज्य पूर्ण रूपेण स्थापित कर लिया था। रीतिकाल के अवसान के समय देशवासियों की शिक्षा विधि में परिवर्तन भी हो चला था। इस काल में उभरी हिन्दी एवं उर्दू-देवनागरी और फारसी लिपि की संघर्ष गाथा बड़ी मनोरंजक है। इसका क्रमागत विवरण यहाँ संभव नहीं होगा परन्तु यह तीसरा खंड हिन्दी और फारसी के द्वंद्व एवं शक्ति परीक्षण का विशद चित्र प्रस्तुत करता है। टोडरमल इस समय तक भाषिक क्षितिज में प्रदोष की धुंध छोड़कर अस्त हो चुके थे और राजा शिव प्रसाद सितारे हिन्द आकाश में जगमगाने लगे थे। वे हिन्दी और नागरी के पक्षपाती थे पर उनकी आरंभिक भाषा अधिकांश उर्दूनुमा होती थी। उसे हिन्दुस्तानी कहा जाता था। हिन्दी के इस रूप को वे अपने अभियान की सीढ़ी मानते थे। परन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल उनके हिन्दी पाठ्यक्रम के यत्नों को एवं साहित्य रचनाओं को सद्भावना से देखते थे। धीरे-धीरे राजा साहब ने भाषा के सांस्कृतिक रूप को आम फहम, खास पसंद, इल्मी ज़रूरत आदि शब्दों से एक रुझान देनी शुरु कर दी। इस वृत्ति का निराकरण करने के लिए राजा लक्ष्मण सिंह ने 'अभिज्ञान शाकुंतलम' का हिन्दी में सरस और अमिश्रित अनुवाद किया जिससे स्थिति में कुछ शांति आई।

आधुनिक राजभाषा (संदर्भ-भारत)

राज्य की कार्यालयीन भाषा कई तरह से अर्थ वैज्ञानिक अनुशासन से परिबद्ध होती है। यह अनुशासन नियत व्याकरणिक रूपों के सम्प्रेषण पैटर्न, पद रचनाएँ एवं वाक्य रचनाएँ सम्पादित करता है (...परिपत्र में प्रकाशित व्यवस्थाओं के अनुसार अवकाश संबंधी स्थापनापन्न नियुक्तियाँ की जाएंगी)। वाक्यों में प्रयुक्त पदनामावली क्रियापद एवं परिभाषिक शब्द असंदिग्धार्थी बनाए जाते हैं। पत्राचारों की प्रणाली और लेखन पद्धति अपना-अपना परिचय शीर्षकों से भी दे देती हैं। (आदेश, अधिसूचना, अनुस्मारक, ज्ञापन आदि)

भारत के प्रशासन में भाषिक स्थिति कुछ विचित्र ही रही है। बहादुरशाह के पश्चात् क्रमशः ब्रिटिश शासन ने एक सुव्यवस्थित कार्यतंत्र द्वारा पैर जमा लिए थे। शिक्षा पद्धति को पश्चिमी प्रणाली के अनुरूप ढालकर नव कार्य पद्धति में प्रशिक्षित अधिकारी वर्ग संगठित कर लिया था।

एक नई सामाजिक संस्कृति भारतीय मानस को अनुरंजित करने लगी थी। ऐसे समय भारत की अवर स्तरीय कार्यालयीन भाषा मुगल शासन काल की शब्दावली एवं मुहावरे के अवशेषों के साथ ब्रिटिश शासन और उसके प्रजातंत्रीय दर्शन की स्वराज्यात्मक प्रणालियों को कार्यान्वित कर रही थी। अर्थात् जिला, सब डिवीज़न और प्रांतीय स्तर पर हिन्दी बेल्ट में अर्जीनवीस, तहकीकात, वासिलवाकी नवीस, निजाम, तपशी दायर करना, मुसम्मात। जरायम पेशा, जकात, आबकारी आदि हजारों प्रशासन के शब्द सब स्तरों पर प्रचलित थे। इनके साथ सीमित स्वशासन तंत्र के 'लेजिस्लेटिव' स्तर के मेंबर, वोट, म्यूनिसपेलिटी पुलिस बजट, लोकल सेल्फ गवर्नमेंट, जैसे सैकड़ों शब्दों का खुलकर प्रयोग होता था। हिन्दी के तत्कालीन लेखकों की रचनाएँ इसकी प्रत्यक्ष प्रमाण है।

अपेक्षाएँ

यह तो एक धारा है, दूसरी धारा थी विभिन्न प्रादेशिक भाषाभाषी नेताओं द्वारा प्रयुक्त तत्सम शब्दों और अपने मुहावरों और उक्तियों और व्याकरण की विशिष्टताओं का हिन्दी लेखन

1. महात्मा गांधी–अगर आपकी दृष्टि मर्यादा श्रीनगर से कन्याकुमारी तक पहुँचती हो... ठहराव–प्रस्ताव...अमलदार–अफसर

2. काका कालेलकर–अंग्रेजी भाषा की आंतरिक शक्ति अमर्याद हैं हिन्दी वालों ने अन्धअभियान वश हिन्दी की असेवा बहुत की।

3. मौलाना आजाद–पिछली सदी में मुल्क में नई सियासी जागृति हुई।

4. बंकिम चंद्र–प्रदेशों के बीच जो लोग एक्यबंध स्थापित करेंगे–वे देश का मंगल साधन करेंगे।

5. श्री अरविंद—साधारण भाषा रूपे हिन्दी भाषा के ग्रहण करिया सेई अंतराय बिनष्ट करिए।

अद्‌भुत इतिहास है हिन्दी के नित-नवीन विकास मान रूपों का। पुनः-पुनः यह नवतां उपैति तदेव रूपं कमनीयतायाः (कालिदास)

सारांश यह है कि काल के घटनाक्रम की मजबूरी के कारण भारत के आजादी के संघर्ष में जो राष्ट्रभाषा के रूप में अपनाई गई थी उसकी आंतरिक गठन में अनेक वैविध्य निहित थे। उस समय (अथवा परवर्ती काल में भी) उसके मानकीकरण में इस तरह की अनेक समास्याएँ हमें निरंतर किसी न किसी कठिनाई में डाल सकती है। परन्तु संविधान में हिन्दी को 'राजभाषा' नियत करते समय हमारे नेताओं ने महती निर्विवाद साकल्यवादी राष्ट्र भावना के ही समान एक उदार सर्वसमावेशी राजभाषा निरसंशय भाव से स्वीकार की थी। जिसका परिष्करण संभवतः जब तब करते ही रहना पड़ेगा।

नवोन्मेष

किन्तु फिर भी कुछ बात खटकी अवश्य होगी—राजभाषा के अर्थवृत्त (सीमेंटिक स्पेस) में भराव की काफी गुंजाइश खटक रही होगी और इस बात की आवश्यकता का अनुभव हो रहा होगा कि हम युग-युगीन सांस्कृतिक महापरंपरा को सांक्रांतिक दबावों की बलि चढ़ा रहे हैं वह भी भाषा नियोजन की सुचिंतित और सुव्यवस्थित समाजभाषा शास्त्रीय पद्धतियों की उपेक्षा करके। अतएव भारत की भाषा के नियोजन और विकास के लिए संविधान के निर्माताओं ने अनुच्छेद 351 की व्यवस्था की और सीमेंटिक स्पेस को परिपूर्ण किया। यही परिपूर्णता इंग्लैण्ड में अंग्रेजी की जटिलता का कारण बनी है। अंग्रेजी भाषी अपनी दफ्तरी भाषा के बारे में क्या कहते हैं वह विज्ञान-लेखक आइसेक एसिमोव के खीज भरे शब्दों में सुनिए—

'यह नौकरशाही की निरक्षरता की द्योतक है और कुछ नहीं। जिनमें संप्रेषण की प्रतिभा नहीं होती वे अंततः इसका सहारा लेते हैं।' लेखक बेसिल डेवनपोर्ट ने 'नोटिफाई' के अर्थ में 'एडवाइस' शब्द के प्रयोग की स्वीकृति तो दी है परन्तु बेमन से।...केवल व्यापारिक या फौजी अंग्रेजी में।

(टाइम, अगस्त 22-1969)

उपसंहार

संभवतः जब भाषा प्रयुक्ति बन जाती है और उसका एक अन्य भाषिक प्रयुक्त के रूप में परिवर्तन होता है तो अनुकरण मात्र ही सहारा रह जाता है। सैद्धांतिक रूप से या संविधान के अनुच्छेद के अनुपालन में परंपरा का प्राधान्य हो जाता है तो विशाल बहुभाषी जनसमुदाय किसी सहज संप्रेषणीय भाषा की मांग करने लगता है। हिन्दी के संबंध में यही यथार्थ है।

प्रशासन के सम्पर्क में आने वाले शिक्षित, साक्षर, निरक्षर सभी वर्ग के लोग भारत में तत्समात्मक राजभाषा के प्रति विरोध प्रकट करते हुए 'शिवप्रसाद सितारे हिन्द' के समान आम फहम और सरल हिन्दी का आग्रह करते रहे। किन्तु जैसे-जैसे संचार माध्यम, पत्र-पत्रिकाओं का प्रचार बढ़ा और विज्ञान तथा टेक्नालॉजी की भूमिका प्रशासन में विस्तृत हुई तो उनको तत्समात्मक शब्दावली, पदरचना एवं वाक्य विन्यास की अनिवार्यता समझ में आने लगी है। बीच-बीच में ब्रिटेन के शासन के परिपत्र थोड़ा-बहुत असंतोष भले ही उत्पन्न करते हों (श्रीमती मार्गरिट थेचर का परिपत्र) परन्तु नव हिन्दी के विकासमान रूप की एवं बहुभाषी देश की भाषाओं के एक मूलाधार का आश्रय लेने की अनिवार्यता कर्मचारियों की समझ में आ रही है तो विरोध कम होता जा रहा है। अलेक्जेंडर पोप ने लिखा है—As they walk easiest who learned to dance. संस्कृत में उक्ति है—वज्मीकश्च सुमेरु : कृतप्रतिज्ञश्च वीरश्च।

'राजभाषा भारती' (1997)
राजभाषा विभाग
भारत सरकार

रवीन्द्रनाथ और हिन्दी

–विनय मोहन शर्मा

सन् 1924 या 25 की बात है। उन दिनों मैं हिन्दू विश्वविद्यालय का छात्र था। एक दिन सहसा सुन पड़ा, रवीन्द्रनाथ विश्वविद्यालय के उपाधि-वितरण समारोह में प्रमुख अतिथि के रूप में आ रहे हैं। हृदय आनन्दातिरेक से स्पन्दित हो उठा। समारोह-दिवस की प्रतिदिन प्रतीक्षा करने लगा। मेरे पड़ोस में श्री माधव (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद के भूतपूर्व संचालक) का कमरा था, जिसमें छात्रावास के दो-चार साहित्य प्रेमी छात्र एकत्रित हो कर रवीन्द्र की 'गीताञ्जलि' के माधुर्य का रसपान किया करते थे। प्रसंगवश यह भी चर्चा छिड़ जाती कि 'गीताञ्जलि' के भावों पर कबीर के पदों की छाप स्पष्ट है। और इसका आधार यह था कि कवीन्द ने कबीर के पदों का अंग्रेजी में सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत किया जिसका विदेशों में भी स्वागत हुआ था। हिन्दी-जगत् में वर्षों यह प्रमाद फैला रहा। हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक भी यही प्रचार करते रहे। बाबू श्याम सुन्दर दास ने लिखा है–''बंगाल में वर्तमान कवीन्द्र रवीन्द्र को भी कबीर का ऋण स्वीकार करना पड़ेगा। अपने रहस्यवाद का बीज उन्होंने कबीर में पाया, किन्तु उसमें पाश्चात्य भड़कीली पालिश भी की है। भारतीय रहस्यवाद को उन्होंने पाश्चात्य ढंग से संजोया है। इसी से यूरोप में उसकी इतनी प्रतिष्ठा हुई है।'' सच बात तो यह है कि कबीर से परिचय प्राप्त करने के पूर्व ही उन्होंने अपनी रहस्य-भावना-सिक्त 'गीताञ्जलि' की रचना कर डाली थी। हाँ, तो कह रहा था, रवीन्द्र के काशी-आगमन की बात। चिर प्रतीक्षा के बाद वह दिन, वह क्षण भी आया, जब लम्बे चोगे में सफेद दाढ़ी और बाल वाले छरहरे गौर बदन कवि हर्ष निनाद के बीच मंच पर पधारे और हम सब के मस्तक श्रद्धा से नत हो गये। ऐसा लगा मानो किसी स्वर्ग-दूत का भूतल पर आगमन हुआ है। उन्होंने नपे-तुले शब्दों में स्नातकों को उपदेश दिया। वे स्नातक आज जहाँ भी होंगे अपने भाग्य को सराहते होंगे, क्योंकि रोम्याँ रोला के शब्दों में 'किसी आत्मा में रचनात्मक कार्य की अग्नि जागृत करने को दूसरी आत्मा से आने वाली एक चिनगारी ही बहुत होती है।' उस समय हमने यह कल्पना नहीं की थी कि भारत शीघ्र स्वाधीन होगा और इस विश्व कवि के एक गीत को राष्ट्रगीत के रूप में स्वीकार करेगा। फिर भी हम विश्वविद्यालय में पहुँच कर उनके सम्बन्ध में पाश्चात्य साहित्य-मर्मज्ञों के विचारों से अवगत हो यह जान चुके थे कि जो व्यक्ति आज हमारे बीच है उसका आतंक पाश्चात्य साहित्य-जगत में भी छाया है। यूरोप

के महान से महान साहित्यिक ने उनकी 'गीताञ्जलि' को 'सर्वथा नवीन और अपूर्व' घोषित किया। साधु एंड्रूज के वे संस्मरण स्मृति-पटल पर खिंच आये जिनमें उन्होंने लिखा था कि जब कवि इंग्लैंड में थे, प्रसिद्ध कलाकार राथेण्टिन के यहाँ एक रात विश्रुत कवि यीट्स ने कवि की कविताओं का प्रमुख साहित्यकारों के बीच पाठ किया था, जिसे सुनकर श्रोता-मण्डली, झूम-झूम उठी थी और उनकी अनुभूति की तुलना शैली, कीट्स, वर्डसवर्थ आदि से की थी।

उस समय हिन्दी में छायावाद-रहस्यवाद का बोलवाला था। तरुण कवि अपने अटपटे गीतों में भी इसी भाव को ध्वनित करता था। हिन्दी के प्रतिष्ठित समीक्षक उन पर भिन्न-भिन्न रूपों से व्यंग-वर्षा करते थे। कहा जाता है—''यह तो रवीन्द्र की छाया है, 'बंगला की जूठन', 'आंग्ल रोमेण्टिक कवियों का प्रभाव है।' इन व्यंगाभिव्यक्तियों में कुछ तथ्य भी था। हिन्दी के मूर्धन्य कवि 'निराला', सुमित्रानन्द पन्त, प्रसाद आदि नये ढंग की कविता करने के लिए बहुत बदनाम थे। 'निराला' की तो शिक्षा-दीक्षा बंगाल में ही हुई थी और उन पर रवीन्द्र का रंग चढ़ा भी था। कानपुर से प्रकाशित होने वाली 'प्रभा' में सम्भवतः बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने 'निराला' की रचनाओं में 'कवीन्द्र' की भाव-छाया का उद्घाटन भी किया था। 'प्रसाद' और 'पन्त' पर भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष 'रवीन्द्र' का प्रभाव दिखलायी देता है। 'निराला' ने अपने एक लेख में 'पन्त' और रवीन्द्रनाथ के भाव-साम्य पर चर्चा भी की थी। महादेवी की कविताओं में उपनिषदों की भावधारा के बीच रवीन्द्र की भाव-लहरियों की बिछलन भी देखी जा सकती है। यद्यपि हिन्दी में गद्यगीत गीताञ्जलि के प्रकाश में आने के पूर्व ही लिखे जाने लगे थे, पर इसे मानने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि उनके अत्यधिक प्रचलन में 'गीताञ्जलि' की प्रेरणा निश्चय थी । हिन्दी में कवि के स्वर्गवास के समय तक निम्न ग्रन्थ अनुदित हो चुके—आँख की किरकिरी, नटी-पूजा, मेरा बचपन, अचला-यतन, आश्चर्य घटना, रवीन्द्र कविता-कानन, ईद का चाँद, रवीन्द्र कथा-कुंज, राजरानी, कुमुदिनी, राजर्षि, ग्रन्थ-गुच्छ (चार भाग), राजा और प्रजा, गीताञ्जलि, रूस की चिट्ठी, विचित्र वधू रहस्य, घर और बाहर, विचित्र प्रबन्ध, चार अध्याय, व्यंग्य कौतुक, चिरकुमार सभा, शिक्षा कैसी हो?, चित्रांगदा, षोडशी, जीवनस्मृति, समाज, डाकघर, विश्व-परिचय, प्राचीन साहित्य, स्वदेश, माली, साहित्य मुकुट, हास्य कौतुक व मुक्तधारा।

हिन्दी में आलोचना साहित्य पर कवि के 'साहित्य' और 'प्राचीन साहित्य' नामक ग्रन्थों का भी कम प्रभाव नहीं पड़ा। प्रभाववादी आलोचनाएँ उनसे अधिकांश में प्रभावित हैं। 'प्राचीन साहित्य' में कवि ने साहित्य-उपेक्षिताओं के प्रति जो करुण उद्गार प्रकट किये हैं उनसे अनुप्राणित हो, 'सरस्वती' सम्पादक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य की उपेक्षिताएँ लेख लिख कर हिन्दी कवियों का ध्यान 'उर्मिला' की ओर विशेष रूप से आकर्षित किया था जिसका परिणाम मैथलीशरण गुप्त का 'साकेत' और स्व. बालकृष्ण शर्मा की 'उर्मिला' है।

हिन्दी के सम्बन्ध में गुरुदेव उदार विचार रखते थे। पं. बनारसी दास चतुर्वेदी जब तक कलकत्ते रहे हिन्दी-भाषियों को शान्ति-निकेतन की यात्राएँ कराते रहे। एक बार जब माखनलाल चतुर्वेदी और श्री जैनेन्द्र उनके पास पहुँचे तो उन्होंने उनसे कहा—''मैं चाहता हूँ हिन्दी के साहित्यिक हमारे साथ रहें। मैं हिन्दी को एक सजीव भाषा बनाना चाहता हूँ।'' कवि हिन्दी पढ़ और लिख

लेते थे और काम चलाऊ बोल भी लेते थे। जब महात्मा गाँधी के प्रयत्न से सौराष्ट्र में गुजराती साहित्य सम्मेलन हुआ था, तब कवीन्द्र को आमन्त्रित किया गया था और महात्मा जी के आग्रह से उन्होंने 'बंगाली-हिन्दी' में भाषण भी दिया था। सन् 1913 में जब कवि को विश्व साहित्य का 'नोबेल पुरस्कार' प्राप्त हुआ था तब हिन्दी के लब्ध प्रतिष्ठ कवि तथा लेखक स्व. पं. लोचन प्रसाद पाण्डेय ने उनका पत्र द्वारा अभिनन्दन किया था, जिसका उत्तर उन्होंने हिन्दी में ही दिया था। उसे श्री रामेश्वर गुरु ने 'धर्मयुग' के 6 अगस्त, 1961 के अंक में प्रकाशित कराया है। वह इस प्रकार है:—

सहृदय महोदय,

यद्यपि ईश्वर की कृपा से हमको आज सम्मान प्राप्त हुई है तथापि हम अपने को सर्वविध सम्मान के अयोग्य ही समझते हैं। (विशेष यह भी है कि कवि को कोई सम्मान की आवश्यकता है भी नहीं)। हमारे परम देवता के चरण कंवल पर जो गीताञ्जलि हम अर्पण किये हैं उससे उतनी प्रसन्नता और हमारी अन्तर की प्रसन्नता ही से हमारा जीवन धन्य है पर आप ऐसे सज्जनों की अभ्यर्थना के अयोग्य होने पर भी आपकी प्रसन्न कृपा प्राप्त कर हम निज को परम धन्य समझते हैं कितने कवि हो गये हैं, कितने मौजूद हैं, कितने आगे होने वाले हैं, पर आप लोगों की सप्रेम शुभकांक्षा दुर्लभ ही है। इतने दूर से इतनी प्रसन्नता और पवित्र-ग्रामबेली कुसुमोपहार प्राप्त हो कर हम यथार्थ धन्य हैं।

भगवान आपको नित्य कल्याण प्रेरणा किया करे और आनन्दामृत रस से नित्य तृप्त रखा करे।

शुक्ल चतुर्थी मार्गशीर्षया	भवदीय
संवत 1970,	प्रीति-पत्र-सम्मानित
शान्ति निकेतन	श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

पं. बनारसीदास जी चतुर्वेदी से उन्होंने एक बार हिन्दी की प्रशंसा करते हुए कहा था कि मुझे कृत्रिम और अलंकार-बोझिल रचनाएँ नहीं रुचती। 'बिहारी सतसई' उन्हें रुचिकर नहीं प्रतीत हुई क्योंकि उसके कुछ दोहों के अनेक अर्थ निकलते हैं, जो विवादास्पद हैं। हिन्दी-मर्मी सन्त कवियों से भी वे क्षितिमोहन सेन के माध्यम से परिचित हो गये थे। हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन के लिए उन्होंने सी.एफ.एन्ड्रूज के साथ शान्तिनिकेतन में हिन्दी-भवन की स्थापना की थी जहाँ डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वानों ने हिन्दी सन्त वांगमय का श्रेष्ठतम शोध-कार्य किया। गुरुदेव की इच्छा थी कि 'हिन्दी भवन' में हिन्दी के मूर्धन्य विद्वान् स्थायी रूप से ठोस साहित्य-कार्य करें। द्विवेदी जी के वहाँ से चले जाने के पश्चात् 'भवन' में डॉ. तोमर, श्री रामपूजन तिवारी, श्री मोहनलाल बाजपेयी आदि विद्वान् हिन्दी अध्यापन तथा साहित्य-निर्माण का कार्य कर रहे हैं।

'भाषा साहित्य और समीक्षा' (1972)

वैज्ञानिक एवं तकनीकी सामग्री का अनुवाद

–छबिल कुमार मेहेर

विज्ञान : अर्थ एवं प्रभेद

'विज्ञान' का सामान्य अर्थ है 'विशिष्ट ज्ञान'; अर्थात् किसी भी विषय का विशेष और व्यवस्थित ज्ञान। इस प्रकार 'विज्ञान' किसी विषय का वह ज्ञान भंडार है जो सुव्यवस्थित अध्ययन, निरीक्षण और अनुभव के द्वारा प्राप्त किया गया हो और जिसके तथ्यों को समायोजित, क्रमबद्ध और वर्गीकृत किया गया हो।

विज्ञान जागरूक एवं प्रशिक्षित मस्तिष्क द्वारा प्रेक्षण एवं प्रयोग की सहायता से भौतिक जगत की प्रकृति को समझने का सतत एवं मुक्त प्रयास है—एक ऐसा प्रयास जिसके फलस्वरूप क्रमबद्ध ज्ञान के भण्डार में निरन्तर वृद्धि हो रही है। इस दिशा में वैज्ञानिक विधि का विशिष्ट योगदान है जो एक चिन्तनशैली, एक दृष्टिकोण, कार्यपद्धतियों का समेकन तथा मान्यताओं का एक ऐसा समुच्चय है जो वैज्ञानिक अनुसंधान में उपयोगी सिद्ध हुआ है और विज्ञान की प्रत्येक शाखा के लिए विशिष्ट है।

यहाँ पर जोर देना जरूरी है कि उस विशिष्ट विषय के व्यवस्थित और वैज्ञानिक विवेचन में विकल्प की गुँजाइश कम ही होती है। विज्ञान किसी क्षेत्र विशेष, संस्कृति एवं सामाजिक परिस्थितियों के कारण टस से मस नहीं होता। इसमें किसी विषय के 'क्या', 'क्यों' और 'कैसे' प्रश्न वैज्ञानिक को गहरे में आन्दोलित करते हैं। गैलेलियो को गिरजाघर में लटकी हुई लैम्प, जेम्सवाट को केतली में से निकलती भाप और न्यूटन को पेड़ से गिरते सेब ने बुरी तरह उद्वेलित किया था। इसके बाद इन वैज्ञानिकों पर हुई प्रक्रिया के परिणाम विश्व के सामने हैं।

बहरहाल, 'विज्ञान' शब्द बहुत ही व्यापक है और इसका कई तरह से वर्गीकरण किया जाता रहा है। सामान्यतः इसके दो भेद किए जाते हैं। एक है 'प्राकृतिक विज्ञान'(Natural Science) और दूसरा 'सामाजिक विज्ञान' (Social Science)। पहले में भौतिकी, रसायनविज्ञान, जीवविज्ञान आदि आते हैं जो प्रकृति पर आधृत हैं। ये सामान्यतः काफी पहले 'विज्ञान' कहे जाते रहे हैं। सामाजिक विज्ञान में इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति, भाषाविज्ञान आदि वे विषय

आते हैं जिन्हें प्रायः कला-संकाय में स्थान मिलता रहा है।

वैज्ञानिक एवं तकनीकी क्षेत्र में हिन्दी

विश्व में आज सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में नित नये आविष्कार हो रहे हैं। विभिन्न कार्यों को द्रुत गति से करने के लिए तरह-तरह के सॉफ्टवेयर बनाए जा रहे हैं। विकसित देश इन सॉफ्टवेयरों को अपनी-अपनी भाषाओं में ही बना रहे हैं। इससे विश्व में सूचना क्रान्ति का प्रादुर्भाव हुआ है। भारत भी इस क्षेत्र मे पीछे नहीं है। भारतीय वैज्ञानिक भी अपनी प्रतिभा का परिचय समय-समय पर देते रहे हैं। इन वैज्ञानिकों के अथक परिश्रम के फलस्वरूप ही सुपर कंप्यूटर का निर्माण संभव हुआ है। अब अनेक केन्द्रीय कार्यालयों का कंप्यूटरीकरण हो चुका है। इससे आम जनता भी लाभान्वित हुई है। राजभाषा हिन्दी की श्रीवृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि कंप्यूटरों पर हिन्दी में भी काम किया जाए, क्योंकि किसी भी देश का प्रौद्योगिकी विकास उसकी भाषा पर निर्भर करता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रौद्योगिकी, विकास और भाषा अन्योन्याश्रित हैं।

प्रौद्योगिकी का स्वरूप जैसे-जैसे उन्नत होता जाता है, उसके लिए नए-नए पारिभाषिक शब्द भी स्वतः ही निर्मित होते जाते हैं, लेकिन यह तभी संभव होता है जब प्रौद्योगिकी विशेष के लिए उसी देश की भाषा में पारिभाषिक शब्द निर्मित किया गया हो जिस देश में मूल रूप से प्रौद्योगिकी की उत्पत्ति हुई है। दूसरे देशों को अपनी भाषा की प्रकृति के अनुकूल इन पारिभाषिक शब्दों के लिए नए शब्द गढ़ने पड़ते हैं।

स्पष्ट है कि भारत में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के प्रस्फुटन और फैलाव से निर्मित परिस्थितियों की अभिव्यक्ति के लिए हिन्दी को सर्वथा नवीनतम रूप में ढालने की सख्त जरूरत महसूस हुई। ऐसा नया रूप जो विज्ञान और प्रौद्योगिकी के गुण-सूत्रों, सिद्धान्तों, नवीनतम प्रयोगों, विधियों तथा भाषिक संरचना को अभिव्यक्त कर सके। आज हमारे पास विभिन्न ज्ञान-शाखाओं के पाँच लाख से अधिक तकनीकी शब्द विकसित किए जा चुके हैं जिनमें से अधिकांश पारिभाषिक शब्द के रूप में उपलब्ध हैं। प्रयोग की दृष्टि से अब ये सभी शब्द कंप्यूटर आधारित राष्ट्रीय शब्दावली बैंक के डाटाबेस में संचित व संसाधित किए जा चुके हैं। यदि हिन्दी के सन्दर्भ में आकलन करें तो एक स्पष्ट निष्कर्ष यह निकलता है कि पर्यायों के चयन या कोडीकरण का अधिकांश काम संपन्न हो चुका है लेकिन उसके व्यापक प्रयोग-प्रसार का सोपान अभी अधूरा है। हिन्दी में विज्ञान लेखन तभी सार्थक होगा जब शब्दावलियों का व्यापक प्रयोग-प्रसार होगा ताकि उन्हें सामाजिक ग्राह्यता एवं पाठ स्वीकृति मिल सके। समाज द्वारा ग्राह्य तकनीकी शब्दों पर एक नजर डालें तो पता चलेगा कि जो शब्द किसी माध्यम से बार-बार जन सामान्य के समक्ष आते रहे वे शीघ्र ही ग्राह्य हो गये, जैसे : वायुप्रदूषण, पर्यावरण, प्रक्षेपास्त्र, प्रतिभूति, अंतरिक्ष आदि। कहने का तात्पर्य यह है कि शब्द न तो कठिन होते हैं न सरल; शब्द या

तो परिचित होते हैं या अपरिचित। फिर भारत जैसे बहुभाषी देश में बहुपर्यायता या एक ही तकनीकी शब्द के लिए एकाधिक पर्यायों का प्रचलन एक सामान्य बात है, जैसे : चुनाव और निर्वाचन, विधि और कानून आदि। ऐसे में छात्रोपयोगी विज्ञान लेखन में तकनीकी पर्यायों के चयन के मानदंड अलग-अलग हो सकते हैं। इसीलिए कई बार यह आवाज उठती है कि भारतीय समाज की भाषिक क्षमता और भारत में विज्ञान लेखन की प्रारम्भिक अवस्था को ध्यान में रखते हुए हमें मानकता के प्रतिमान में कुछ लचीलापन लाना चाहिए और तकनीकीपन की थोड़ी-बहुत कीमत चुकाकर भी हमें किंचित शिथिल लेकिन सुग्राह्य शब्दावली का प्रयोग करना चाहिए।

वैज्ञानिक भाषा एवं तकनीकी शब्दावली

भारत में आधुनिक विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का आविर्भाव मूलतः अंग्रेजी भाषा के माध्यम से हुआ है। वैज्ञानिक एवं तकनीकी शिक्षण तथा अनुसंधान की भाषा अंग्रेजी ही रही है। आज भी उच्च अध्ययन तथा अनुसंधानशालाओं और प्रयोगशालाओं की भाषा अंग्रेजी है। संगोष्ठियों और सम्मेलनों में भारतीय वैज्ञानिक अंग्रेजी के माध्यम से ही अपने विचार व्यक्त करते हैं। लगभग सम्पूर्ण वैज्ञानिक अनुसंधान साहित्य अंग्रेजी में प्रकाशित होता है। देश की प्रगति के लिए एक तरफ अंग्रेजी भाषा का प्रयोग किया जा रहा है और दूसरी तरफ भारतीय चेतना व संस्कृति रक्षा के लिए हिन्दी भाषा पर जोर दिया जा रहा है। दोनों बातें परस्पर विरोधी होने के बावजूद दोनों भाषा की स्वीकार्यता या दोनों में से किसी एक को चुनने की बाध्यता हम सभी के लिए विचारणीय प्रश्न है। खैर, हम वैज्ञानिक भाषा और उसकी विशिष्टता की ओर लौटते हैं-

वैज्ञानिक भाषा

भाषा अभीष्ट विचार की अभिव्यक्ति का माध्यम है। प्रारम्भ में भाषा का प्रयोग सम्भवतः तात्कालिक आवश्यकताओं और इच्छाओं की पूर्ति एवं भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए होता था। कालान्तर में मानव ने अनुभूत विश्व को शाब्दिक रूप प्रदान करना प्रारम्भ कर दिया और आज वैज्ञानिक एवं तकनीक लेखन में भाषा पूर्णरूपेण इसी आवश्यकता की पूर्ति करती है।

विज्ञान की विशिष्ट भाषा का एक काम यह है कि इसके द्वारा विज्ञान का क्रमबद्ध ज्ञान घनीभूत हो जाता है। विज्ञान की भाषा संकल्पनात्मक होने के कारण अक्सर जटिल होती है। यह भी सच है कि वैज्ञानिक भाषा तथा दैनिक व्यवहार की भाषा के पारस्परिक आदान-प्रदान के कारण वैज्ञानिक शब्दावली की समस्याएँ और भी जटिल हो गयी हैं। अनेक वैज्ञानिक शब्द यद्यपि सामान्य भाषा से लिए गए हैं किन्तु उनका विशिष्ट वैज्ञानिक महत्त्व है। उदाहरण के लिए 'कार्य' शब्द किसी प्रकार के श्रम का द्योतक है चाहे वह मानसिक हो या शारीरिक,

किन्तु भौतिकी में यही शब्द किसी पिंड पर अनुप्रयुक्त बल तथा बल की दिशा में गतिमान पिंड की दूरी के गुणनफल का द्योतक है। स्पष्ट है कि वैज्ञानिक एवं तकनीकी भाषा की अपनी अलग प्रकृति होती है जो निम्नानुसार है :

1. वैज्ञानिक साहित्य की भाषा सुनिश्चित, स्पष्ट और सुबोध होती है।
2. एकार्थता वैज्ञानिक भाषा का अनिवार्य गुण है।
3. विज्ञान वस्तुनिष्ठ होता है न कि व्यक्तिनिष्ठ। इसीलिए विज्ञान की भाषा वस्तुनिष्ठ होती है। दूसरे शब्दों में वैज्ञानिक साहित्य अभिव्यक्ति प्रधान न होकर विषय प्रधान होता है।
4. पारिभाषिक शब्दावली का बहुतायत प्रयोग वैज्ञानिक साहित्य में किया जाता है।
5. अलंकार का प्रयोग, पुनरुक्ति, अनावश्यक विस्तार, वाग्जाल आदि वैज्ञानिक साहित्य की भाषा के लिए दोष स्वीकारे गए हैं।

वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली

वैज्ञानिक एवं तकनीकी क्षेत्रों में हिन्दी के प्रयोग के बारे में चर्चा के उपरान्त तकनीकी एवं वैज्ञानिक शब्दों की चर्चा जरूरी है। वैज्ञानिक एवं तकनीकी अनुवाद विषय-वस्तु केन्द्रित होने कारण इसका मूल आधार है पारिभाषिक शब्दावली। अतः प्रमुख वैज्ञानिक एवं तकनीकी क्षेत्रों के मूलभूत पारिभाषिक शब्दों और उनके हिन्दी पर्यायों से परिचय जरूरी है -

1. गणित की पारिभाषिक शब्दावली :

Dissolvent	-	वियोजक
Density distribution	-	घनत्व बंटन
Integer	-	पूर्ण संख्या
Angle	-	कोण
Anharmonic ratio	-	वज्रानुपात
Negator	-	निषेधक
Rectangular	-	आयताकार
Revised simplex technique	-	संशोधित एकल प्रविधि
Tridiagonal	-	त्रिविकर्णी
Antimode	-	प्रतिबहुलक
Varying Probability	-	परिवर्ती प्रायिकता

2. भौतिकी की पारिभाषिक शब्दावली :

Activator	-	सक्रिय कारक, सक्रियक
Active area	-	विकिरण खतरा क्षेत्र
Anti plugging relay	-	प्लगरोधी रिले
Back swing voltage Pulser	-	पश्चडोल वोल्टता स्पंदक
Diffuse	-	विसरित करना या होना
Amplifier	-	प्रवर्द्धक, एम्पलीफायर
Acoustic	-	ध्वनिक
Acorn valve	-	लघु वाल्व
Growler	-	घुर्घरित्र
Ground object	-	भू स्थित पिंड
Horn type radiator	-	श्रृंग विकिरक

3. वनस्पतिविज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली :

Circummutation	-	शिखाचक्रण
Farinose	-	चूर्णावृत्त
Aesculus indica	-	एस्कुलस इंडिका
Aerography	-	वायु वर्णन
Acromorphoris	-	वायु रूपान्तरण
Cedar	-	देवदारू, सीडर
Fimbriate	-	झालरदार
Galactans	-	गैलेक्टन्स
Imvic	-	इमविक
Intrafoliar	-	अंतःपर्णी
Longiflorious	-	दीर्घपुष्पी
Trifoliate	-	त्रियर्णक
Undatus	-	तरंगी
Unctuousness	-	स्निग्धता
Phasmidial gland	-	फैस्मिडीय ग्रंथि, पश्चक ग्रंथि
Rupestral	-	शैलवासी
Televoltmeter	-	टेलीवोल्टमापी

4. प्राणिविज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली :

Caverncole	-	कंदरावासी
Didelphic	-	द्विअंडाशयी
Effete cell	-	शीर्ण कोशिका
Epiderm	-	वाह्य त्वचा, अधिचर्म
Antigen	-	ऐंटीजन, प्रतिजन
Aseptate	-	पटहीन
Achenia	-	ऑकीनिया
Bambardier Beetle	-	प्रेक्षेपी भृंग
Casque	-	शिरस्त्राण
Fuchsinophil	-	फुक्सिनरागी
Hypocentram	-	अधःकशेरुकमूल
Newt	-	न्यूट
Scapulars	-	अंसपिच्छ

5. रसायनविज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली :

Monotone	-	एकदिष्ट
Papier mache	-	पैपियर माशे, पत्रपेष
Vee joint	-	वी संधि
Alkali	-	क्षार
Caliper	-	कैलिपर
Alginic acid	-	ऐल्जिनिक अम्ल
Finite	-	शून्येतर
Wallach reaction	-	वालाक अभिक्रिया
Scarlet fever	-	स्कारलेट ज्वर

6. कंप्यूटरविज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली :

Asynchronous communication	-	अतुल्यकाली संचार
Attached processor	-	संलग्न संसाधित्र
Authorised programme	-	प्राधिकृत क्रमादेश
Alphabetic character	-	अक्षरात्मक संप्रतीक

Analog data	- अनुरूप आँकड़े
Backup file	- पूर्तिकर संचिका
Bar code scanner	- रेखिका कूट क्रमवीक्षक
Beam store	- किरण पुँजी भंडार
Binary operation code	- द्विआधारी संक्रिया कूट
Calculater	- परिकलित्र
Command	- समादेश
Cursor	- संकेतक
Data base	- आँकड़ा संचय
Disk file	- चक्रक संचिका
File	- संचिका
Floppy Disk	- नाम्यिका, फ्लापी डिस्क
Hardware	- यंत्र सामग्री
Keyboard	- कुंजीपटल
Programme	- क्रमादेश
Application programming	- अनुप्रयोग क्रमादेशन
Array processor	- सरणी संसाधित्र
Bar code	- रेखिका कूट
RAM (Randam Access Memory)	- रैम
Terminal	- अंतक

7. भूगोल की पारिभाषिक शब्दावली :

Along shore	- अनुतटीय
Berg wind	- पर्वत पवन
Bergy bit	- बर्फ शैलांश
Buccaneer	- जल दस्यु
Consolidating lava	- संपिडंन लावा
Adumbrated	- आच्छादित
Agean	- इजीयन
Allotment	- नियतन, नियत भू-भाग
Depressed area	- अवनत क्षेत्र
Gore	- त्रिकोणीय भूमि

Homoseismal line	-	सहभूकंप रेखा
Plateau	-	पठार
Sept	-	वंश
Temporate climate	-	शीतोष्ण जलवायु
Thermocline	-	ताप प्रवणता
Uitlander	-	विदेश व्यक्ति
Ravine	-	खड्ड
Rugged	-	नतोन्नत, असम

8. आयुर्विज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली :

Brain sand	-	मस्तिष्कीय रेणु
Cauda equina	-	मेरुरज्जु पुच्छ
Cerebrospinal fluid	-	प्रमस्तिष्क मेरुतरल
Endocrine gland	-	अंतःस्रावी ग्रंथि
Pineal gland	-	पिनियल ग्रंथि
Vestigeal gland	-	अवशेषी ग्रंथि

9. इंजीनियरी की पारिभाषिक शब्दावली :

Aerodynamics	-	वायुगतिकी
Biplane	-	द्विपंखी विमान
Boundary condition	-	परिसीमा प्रतिबंध
Capillary curve	-	कोशिका-वक्र
Diffusion velocity	-	विसरण वेग
Flow friction	-	तरल घर्षण
Pneumatics	-	गैस यांत्रिकी

वैज्ञानिक एवं तकनीकी सामग्री का अनुवाद

वैज्ञानिक नियम तर्क पर आधारित होते हैं। उसमें कार्य-कारण सम्बन्ध होता है। दूसरे, वैज्ञानिक नियम प्रमाण-साक्ष्य पर आधारित होते हैं। इसलिए विज्ञान के नियम सार्वभौम होते हैं। इसलिए अनूदित भाषा में भी नित्यतावाची क्रियाओं (होता है, है, ता है) का प्रयोग होता है। बहरहाल, वैज्ञानिक अनुवाद में निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना जरूरी है :

1. स्रोत-भाषा की सामग्री को विज्ञान के सन्दर्भ में भलीभाँति समझना।

2. विषय की आधारभूत जानकारी प्राप्त करना।
3. मूल-पाठ में सम्मिलित पारिभाषिक शब्दों का पर्याय चयन करना।
4. वस्तुओं, पदार्थों आदि के सामान्य हिन्दी नाम स्वीकार करना।
5. संक्षिप्तियाँ एवं प्रतीक चिह्नों आदि का प्रयोग मूल-पाठ के अनुसार करना।
6. सन्दर्भ सूची मूल-पाठ के अनुक्रम में देना तथा लक्ष्य-भाषा की प्रकृति के अनुसार ही उन्हें व्यवस्थित करना ।

विज्ञान और प्रौद्योगिकी से सम्बद्ध विषयों का अनुवाद करते समय पहला सवाल उन विषयों की जानकारी के बारे में उठता है। स्पष्ट कर देना जरूरी है कि अनुवादक के लिए किसी विज्ञान या प्रौद्योगिकी का विशेषज्ञ होना जरूरी नहीं है, जरूरी है 'विषय की सामान्य समझ' अर्थात् वह उस पाठ को समझता है जिसका वह अनुवाद करने जा रहा है। साथ ही प्रयुक्त शब्दावली का जानकार हो। इसके बिना अनुवाद में सन्दर्भगत गलतियाँ रह जाएगीं। जरा निम्नलिखित वाक्यों/वाक्यांशों का 'किया गया हिन्दी अनुवाद' व 'प्रस्तावित अनुवाद' देखिए :

1. मूल : A finite point set has no limit points.
   किया गया अनुवाद : *परिमित समुच्चय में सीमाबिन्दु नहीं होते।*
   प्रस्तावित अनुवाद : *परिमित समुच्चय के सीमाबिन्दु नहीं होते।*
2. मूल : Mammals are hairy animals.
   किया गया अनुवाद : *स्तनधारी केशयुक्त प्राणी हैं।*
   प्रस्तावित अनुवाद : *स्तनधारी रोमयुक्त प्राणी हैं।*
3. मूल : Hence closed neighbourhoods are closed.
   किया गया अनुवाद : *अंतःसंवृत्त प्रतिवेश संवृत्त होते हैं।*
   प्रस्तावित अनुवाद : *अंतःसंवृत्त प्रतिवेश संवृत्त समुच्चय होते हैं।*
4. मूल : ...the Chirping of male crickets, which rub one wing against its neighbour.
   किया गया अनुवाद : *नर झींगुरों की चूँ-चूँ जिसे वह अपने पंख को पडौसी झींगुर के साथ रगड़कर उत्पन्न करता है।*
   प्रस्तावित अनुवाद : *नर झींगुरों की चूँ-चूँ जिसे वह अपने ही बगल वाले (दूसरी तरफ के) के साथ रगड़कर उत्पन्न करता है।*
5. मूल : It has been shown that if living organism be excluded, there is no fermatation.
   किया गया अनुवाद : *यह प्रदर्शित किया जा चुका है कि यदि जीवधारियों को अलग कर दिया जाए तो किण्वन नहीं होता।*
   प्रस्तावित अनुवाद : *यह प्रदर्शित किया जा चुका है कि यदि जीवधारियों को प्रविष्ट ही न होने दिया जाए तो किण्वन नहीं होता।*

6. मूल : Methane mixed with 4-12times of its own volume of air explodes when a light is applied to it.

किया गया अनुवाद : *जब मीथेन पर अपने आयतन से 4-12 गुनी वायु को मिश्रित करते प्रकाश पड़ने दिया जाता है तो मिश्रण विस्फोट करता है।*

प्रस्तावित अनुवाद : *जब मीथेन पर अपने आयतन से 4-12 गुनी वायु को मिश्रित करके ज्वाला के सम्पर्क में लाया जाए तो मिश्रण विस्फोट करता है।*

साहित्यानुवाद में दो भाषाओं की जानकारी जरूरी होती है लेकिन वैज्ञानिक एवं तकनीकी सामग्री के अनुवाद में एक और अतिरिक्त बात जरूरी होती है : 'विषय की सामान्य जानकारी या समझ'। विज्ञान-सन्दर्भ को बिना समझे सामान्य अनुवादक 'Rose wood' के लिए 'गुलाब की लकड़ी', 'Woody portions' के लिए 'काष्ठमय अंश', 'Shoe-flower' के लिए 'पादुका पुष्प', 'Rat snake' के लिए 'चूहा सांप' लिख देगा जबकि विषय के प्रति सचेत अनुवादक इनका अनुवाद क्रमशः 'शीशम', 'छिलके', 'गुड़हल' और 'धामन साँप' करेगा। इस क्रम में निम्नलिखित सामग्री का अनुवाद द्रष्टव्य है :

मूल :

The earliest mammals like the earliest birds were creatures driven by competition and pursuit into a life of hardship and adaptation to cold. With them also the scale became quill like, and was developed into a heat-retaining covering, and they too underwent modifications, similar in kind though different in detail to become warm blooded and independent of basking.

किया गया हिन्दी अनुवाद :

आदिम काल की चिड़ियों की भाँति पृथ्वी के सर्वप्रथम स्तनपायी प्राणियों को भी प्रतियोगिता और कठिनाइयों के कारण विवश होकर अपने शरीर को शीतकाल के उपयुक्त बनाना पड़ा। और चिड़ियों की भाँति इनके शल्क भी विकसित होकर ***सेही के काँटों*** *के सदृश शरीर की उष्णता बनाए रखने में वर्म का-सा काम करते थे। तदुपरान्त धूप से शरीर सेंकने की आवश्यकता को दूर करने तथा* ***शरीरस्थ रुधिर उष्ण बनाए रखने*** *के लिए इन स्तनपायी प्राणियों में भी पक्षियों की भाँति परिवर्तन और संशोधन होने आरम्भ हो गए।*

उपर्युक्त अनुवाद को देखकर कहा जा सकता है कि अनुवादक का अंग्रेजी एवं हिन्दी दोनों भाषा पर अधिकार है। परन्तु विषय का सम्यक् ज्ञान न होने के कारण 'quill' के लिए 'सेही के काँटे' एवं 'warm blooded' के लिए 'शरीरस्थ रुधिर उष्ण' शब्द रख दिया जबकि इनके लिए सटीक शब्द क्रमशः 'पिच्छ' और 'समतापी' हैं । उक्त पैरा का सही अनुवाद होगा :

प्रस्तावित अनुवाद :

आदिम काल की चिड़ियों की भाँति पृथ्वी के सर्वप्रथम स्तनपायी प्राणियों को भी प्रतियोगिता और कठिनाइयों के कारण विवश होकर अपने शरीर को शीतकाल के उपयुक्त बनाना पड़ा। और चिड़ियों की भाँति इनके शल्क भी विकसित होकर ***पिच्छ*** *के सदृश शरीर की उष्णता बनाए रखने में वर्म का-सा काम करते थे। तदुपरान्त धूप से शरीर सेंकने की आवश्यकता को दूर करने तथा* ***समतापी*** *बनने के लिए इन स्तनपायी प्राणियों में भी पक्षियों की भाँति परिवर्तन और संशोधन होने आरम्भ हो गए।*

विज्ञान में भाषा अवधारणा-केन्द्रित होती है और प्रौद्योगिकी में वस्तु-केन्द्रित। ऐसे में इंजीनियरी की सामग्री का अनुवाद करते समय मूल शब्दों की बनावट, उसकी कार्य-प्रणाली का स्पष्ट बोध होने के साथ-साथ उनके कार्य-बोधक शब्दों की जानकारी भी आवश्यक है; 'Ionization' के लिए 'आयनीकरण', 'Voltage' के लिए 'वोल्टता', 'Ringstand' के लिए 'वलय स्टैंड', 'Saponifier' के लिए 'साबुनाकारक' आदि के रूप सामान्य और प्राकृतिक भाषाशास्त्रीय क्रिया के अनुसार बनाए गए हैं और ऐसे शब्दरूपों को वैज्ञानिक शब्दावली की आवश्यकताओं तथा सुबोधता, उपयोगिता और संक्षिप्ता का ध्यान रखते हुए व्यवहार में लाना चाहिए। कठिन संधियों का यथा संभव कम से कम प्रयोग करना चाहिए और संयुक्त शब्दों के लिए दो शब्दों के बीच हाइफन लगा देना चाहिए। इससे नई शब्द रचनाओं को सरलता और शीघ्रता से समझने में सहायता मिलेगी। अन्तर्राष्ट्रीय शब्दों को यथा संभव उनके प्रचलित अंग्रेजी रूपों में ही अपनाना चाहिए और हिन्दी व अन्य भारतीय भाषाओं की प्रकृति के अनुसार ही उनका लिप्यंतरण करना चाहिए; जैसे हाइड्रोजन, कार्बन, कैलॉरी, ऐम्पियर, वोल्टमीटर, पेट्रोल, इलेक्ट्रान, प्रोटॉन, साइन, कोसाइन, लॉग, टेन्जेन्ट आदि। कभी-कभी कुछ शब्दों के सहज अनुवाद लोक-व्यवहार के आधार पर प्रचलित हो जाते हैं। ऐसे शब्दों के लिए कोशगत पर्याय ढूँढ़ने के बजाय प्रचलित रूपों को स्वीकार कर लेना ही अनुवादक और अनुवाद, दोनों के हित में होता है। जैसे 'Fire Engine' के लिए 'दमकल', 'Positive-Negative Wire' के लिए 'ठंडा व गर्म तार', 'Atom' के लिए 'परमाणु', आदि। ऐसे ही चिकित्सा विज्ञान के अनुवाद के सन्दर्भ में सामान्य बीमारियों के हिन्दी अनुवाद में लोक प्रचलित नामों का उपयोग किया जाना चाहिए; जैसे Mumps- कनपेड़/गलसुआ, Chicken pox- छोटी माता, Small pox- बड़ी माता, Jaundice- पीलिया, Heat stroke- लू लगना आदि। इसी प्रकार हमारे दैनिक जीवन में प्रयुक्त कुछ यंत्रों के अंग्रेजी नाम आज हमारे लिए सामान्य हो गये हैं जैसे कि 'रेफ्रिजरेटर', 'माइक्रो वेव', 'इंडक्सन कुकर', 'टेलीफोन, 'मोबाईल' आदि; ऐसे प्रचलित नामों का अनुवाद करने की जरूरत ही नहीं है। फिर भी प्रौद्योगिकी की पारिभाषिक शब्दावली का अनुवाद करने समय चैकन्ना रहने की खास जरूरत है, क्योंकि ऐसे अनेक शब्द हैं जिनका विज्ञान के विविध क्षेत्रों में अलग-अलग अर्थों में प्रयोग होता है; जैसे

कि speed, valocity, force, power, strength, thrust आदि। दूसरी बात यह कि वैज्ञानिक एवं तकनीकी सामग्री के अनुवाद में विषय-वस्तु ही सर्वोपरि है, भाषा और शैली गौण है। इसका अर्थ यह नहीं कि हमे भाषा के सामान्य व्याकरणिक नियमों को अनदेखा करेंगे। वैज्ञानिक अनुवाद में शैली गौण होने के बावजूद हमें वैज्ञानिक तथ्यों को सहज, स्पष्ट और सम्प्रेषणीय ढंग से प्रस्तुत करना होगा; संकेतकों एवं प्रतीकों का सम्यक् ध्यान रखना होगा, वरना अनुवाद मात्र शब्द जाल बनकर रह जाएगा। इस क्रम में निम्नलिखित वैज्ञानिक सामग्री का हिन्दी अनुवाद द्रष्टव्य है :

मूल :

Life, as we know it on our own Planet, exists in an atmosphere that we call air : about 78% nitrogen, 21% oxygen, 1% other gases, with very small amount of carbon dioxide (Co_2). The atmosphere of Mars is about 96% Co_2 with only 2-3% nitrogen. If any of the ice in the Martian ice-caps is frozen water, the amount is very small indeed, Most of it is Co_2 ice.

हिन्दी अनुवाद :

जैसा कि हम जानते हैं कि हमारे अपने ग्रह पृथ्वी पर जीवन के लिए हवा अनिवार्य है। यह हवा क्या है ? वस्तुतः ऐसा वायुमंडल जिसमें 75% नाइट्रोजन, 21% ऑक्सीजन, 1% अन्य गैस है, इसमें कार्बन-डाई-ऑक्साइड भी शामिल है। मंगल ग्रह के वायुमंडल में 96%कार्बन-डाई-ऑक्साइड है और केवल 2-3% नाइट्रोजन है। अतः मंगल के हिम-आच्छादों में जल के जमने से बनी बर्फ की मात्रा होती भी है तो बहुत ही कम। यहाँ अधिकांश बर्फ Co_2 यानी कार्बन-डाई-ऑक्साइड होती है।

इस प्रकार हमने देखा कि वैज्ञानिक-तकनीकी साहित्य के अनुवाद की प्रक्रिया सर्जनात्मक साहित्य के अनुवाद की प्रक्रिया से अलग है। वैज्ञानिक साहित्य ज्ञानात्मक होने से इसकी मूल प्रवृत्ति सूचनात्मक होती है। अतः वैज्ञानिक सामग्री के अनुवाद में दो बातें जरूरी है : 1. पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान एवं 2. विषय की सामान्य समझ। इस प्रकार थोड़ी सी सावधानी और धैर्य के साथ हम वैज्ञानिक एवं तकनीकी सामग्री का सुन्दर एवं सुग्राह्य अनुवाद कर सकते हैं।

हिन्दी अधिकारी
राजभाषा प्रकोष्ठ
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)

महादेवी के विचार-सिद्धान्त

–किरण वट्टी

महादेवी एक ऐसी विकासमान धारा है, जो सहृदय-हृदय में उन्मेष करती है। विषाद और निराशा से मण्डित गत्वर जीवन-चित्रों के प्रति असीम अनुराग भरती है।

उनकी साहित्यिक विचारधारा भारतीय आदर्शवाद पर टिकी हुई है। यह आदर्शवादी चिन्ताधारा अपनी प्रखर चिन्ता से समन्वय का गवाक्ष खोलती है। जगत के खण्ड-खण्ड में सामंजस्य की भावना महादेवी की अपनी विशेषता है। यथार्थ और आदर्श का समन्वय, स्थूल और सूक्ष्म का समन्वय सर्वत्र लक्षित होता है।

'हमारे भावक्षेत्र और ज्ञानक्षेत्र की स्थिति पृथ्वी के दो गोलार्द्ध के समान है जो मिलकर भूगोल को पूर्णता देते हैं और अकेले आधा संसार ही घेर सकते हैं।'

इस अवरण से स्पष्ट है कि भाव से ज्ञान का कितना निकट का सम्बन्ध है कि बिना उनकी मौलिक एकता की भावना के साहित्यिक को वह सामंजस्य दृष्टि प्राप्त नहीं हो सकती।

'साहित्य में मनुष्य की बुद्धि और भावना इस प्रकार मिल जाती हैं जैसे धूपछाहीं वस्त्र में दो रंगों के तार, जो अपनी अपनी भिन्नता के कारण ही अपने रंगों से भिन्न एक तीसरे रंग की सृष्टि करते हैं।'

उपर्युक्त पंक्तियों में बुद्धि और भावना का घोर सामंजस्य लक्षित होता है। महादेवी जी ने दृढ़ता से बताया है कि इन्हीं दोनों वृत्तियों पर साहित्य की अविराम धारा टिकी हुई है। अनेकता में एकता की भावना महादेवी की निजी विशेषता है। वे मानती हैं कि अन्तर्गत और बाह्य का सामंजस्य ही साहित्य की असली उपयोगिता है।

श्री महादेवी की विचारधारा से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनके शब्द अत्यन्त पचा-पचा कर लिखे गये हैं। अजीर्णा का समावेश कहीं संयोग से भी नहीं हुआ है। उनकी दूसरी विशेषता गहनतम अनुभूति है जो गहन अध्ययन और गम्भीर अनुभव पर टिकी हुई है।

''छायावाद जन्म से प्रथम कविता के बन्धन सीमा तक पहुँच चुके थे और सृष्टि के वाह्याकार पर इतना अधिक लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिए रो उठा। स्वछन्द छन्द में चित्रित उन मानव अनुभूतियों का नाम छाया उपयुक्त ही था और मुझे तो आज भी उपयुक्त ही लगता है।''

उपर्युक्त पंक्तियों में छायावाद के मूल कारण पर बहस की गई है। और उसका जन्म भूतकाल से ही बताया गया है। इस व्याख्या से स्पष्ट लक्षित होता है कि छायावाद में मानव-मन की घनी अभिव्यक्ति है। वे कहती हैं—

''छायावाद व्यथा का सवेरा है। अतः उसके प्रभाती गीतों की सुनहली आभा पर आँसुओं की नमी है। स्वानुभूति को प्रधानता देने वाले इन सुख दुःख भरे गीतों के पीछे भी इतिहास है। जीवन व्यस्त तो बहुत था, पर उसके कर्माण्डम्बर में सृजन का कोई क्रम न मिलता था। समाज संस्कृत सम्बन्धी आदर्शों और विश्वासों को एक पैमाने में नापने के लिए जिज्ञासा वामन से विराट हुई जा रही थी। बहुत दिनों से शरीर का शासन सहते-सहते हृदय विद्रोही हो उठा था। नवीन सभ्यता हमें प्रकृति से इतनी दूर ले आई थी कि पुराना रूपदर्शन जनित संस्कार खोई वस्तु की स्मृति के समान बार-बार कसक उठता था। राष्ट्रीयता की चर्चा और समय की आवश्यकता ने हमें पिछला इतिहास देखने के लिए अवसर दे दिया।''

कवयित्री ने छायावाद को प्रसाद, पन्त, निराला आदि ने उदाहरणों द्वारा जीवन की ठोस भूमि पर सप्रमाणसिद्ध करने का जो उद्योग किया है वह सराहनीय हैं। पर यह उद्योग उतना सफल नहीं हो सका जितना कि होना चाहिए।

'छायावाद तत्त्वतः प्रकृति के बीच में जीवन का उद्‌गार है अतः कल्पनाएँ बहुत रंगी और विविध रूपी है।'

महादेवी की साहित्यिक धारणाएँ उनकी अपनी विचार धारा से अधिक दबी हुई हैं। यह उनके निर्णयों से सहज बोध होता है। छायावाद की कोमल और करुणा भावधारा दर्शन के भार से दबी हुई है। छायायुग की काव्यधारा सौन्दर्य लोक में जाकर खो जाती है। वह जीवन से रस ग्रहण करती नहीं दिखाई पड़ती। इसी से छायावाद का जीवन से पलायन संभव है और यही कारण है कि वह यथार्थ का सामना नहीं कर सका।

यहाँ कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि छायावाद का जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं रहा। पर जहाँ कहीं जीवन दिखाई पड़ता है वह आंशिक जीवन है— सम्पूर्ण जीवन नहीं। निराला जी ने 'वह दीपशिखा-सी शान्त भाव में लीन' विधवा और भिखारी के जो मर्मस्पर्शी चित्र अंकित किए हैं उनमें जीवन कराह रहा है, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु वे हैं कितने!

'कर्मकाण्ड के विस्तार से थके हुए कुछ मनिषियों ने चिन्तन-पद्धति के द्वारा ही आत्मा का चरम विकास सम्भव समझा। इनके साथ वह पक्ष भी रहा जो कुछ योग क्रियाओं और अभ्यासों द्वारा आत्मा को दिव्य शक्ति सम्पन्न बनाने में विश्वास रखता था। दूसरे अर्थ में वह कर्मकाण्ड के रूप में परिवर्तन चाहता था—उसका अभाव नहीं।'

लेखिका ने रहस्यवाद का मूल स्रोत वेदों और उपनिषदों में दिखाया है। आत्मा और परमतत्त्व का उत्तरोत्तर परिष्कृत रूप ही रहस्यवाद की मूल प्रेरणा है।

रहस्यवाद में जो भावधारा बहती है वे सभी भाव उपनिषदों की ज्ञान धारा में स्पष्ट देखे जाते हैं। उन्होंने उपनिषदों के समानान्तर चिन्तन और साधना का एक साथ साधन जुटाते हुए उसी परम्परा को कबीर तक निभाया है।

महादेवी जी ने रहस्यवाद को सूफियों के रहस्यवाद के निकट तो माना है; किन्तु जैसा अन्य आलोचकों का कहना है कि रहस्यवाद की धारा सूफी सम्प्रदाय से प्रभावित है—बहुत अंशों में विवादग्रस्त हैं। वे मानती हैं कि सूफियों के रहस्यवाद पर भारतीय वेदान्त की गहरी छाया है। अतः स्पष्ट है कि हम नहीं, सूफी हमसे प्रभावित है। यहाँ महादेवी जी की अन्य आलोचकों से भिन्नता स्वयं प्रमाणित है। लेखिका ने बताया है कि रहस्यवाद की धारा मूलतः नवीन नहीं है; क्योंकि उसका स्रोत भारतीय विचार धाराओं में ओतप्रोत है। इसमें कोई प्रमाण-संग्रह की जरूरत नहीं।

कवयित्री ने नारी के रूपक से सीमाबद्ध आत्मा का जो चित्र दिया है—वह सहज ही बोधगम्य है। आत्म-समर्पण का यह भाव तो बड़ा मार्मिक है, पर यह उनका मौलिक विचार नहीं है।

कवयित्री ने गीतिकाव्य पर भी असाधारण अधिकार रखते हुए बड़े सुन्दर विचार प्रकट किए हैं। उन्होंने गीत के अविर्भाव का श्रेय क्रोंच पक्षी की व्यथा से उत्पन्न आदि कवि की करुणा को दिया है। वे कहती हैं—

'क्रौंच की व्यथा से करुणाद्र' ऋषि गा नहीं उठा, जीवन के तार सम्हालने लगा और इस प्रकार कुछ समय तक रागिनी मूक रहकर तारों की झंकार सुनती रही। पर काव्य का राग जब मौन हो जाता है तब लोक उस लय को सँभाल लेता है, इसी से गीत की स्थिति अनिश्चित नहीं हो सकती।

उन्होंने वेदों, उपनिषदों, लोक-गीतों और थेरीगाथाओं से गीत का मार्मिक चित्रण करते हुए प्रामाणिक संग्रह तैयार किए हैं। गीत की व्याख्या भी बढ़े मार्मिक और वैज्ञानिक ढंग से की गयी है।

1. 'साधारणतः गीत व्यक्ति सीमा में तीव्र सुख दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्द रूप है, जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।'

2. 'सुख दुःख के भावावेशमयी अवस्था विशेष का गिने-चुने शब्दों में स्वर साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।'

यथार्थ और आदर्श के सम्बन्ध में महादेवी जी दोनों दृष्टिकोणों को सामने रखते हुए एक दूसरे की पूर्ति पर जोर देती है। उन्होंने यथार्थ में आदर्श को कसने का और आदर्श में यथार्थ को परखने का भरसक प्रयास किया है; किन्तु वे आदर्शवादिता में अधिक रमी हुई हैं। क्रमागत ऐतिहासिक चित्रण महादेवी की निजी विशेषता है। उन्होंने शृंखलावद्ध उदाहरणों से

रामायण और महाभारत काल के मनोरम चित्रों द्वारा यथार्थ में आदर्श के आदर्श में यथार्थ के सम्मेलन दिखाए हैं।

उनकी आलोचना में दोनों पक्षों का सन्तुलन है। इसी से वह एकांगी नहीं हुई है। एकांगिता घिरे हुए जल के समान दूषित है—इसे वे मानती हैं!

उनकी दृष्टि में आदर्श का मूल्य यथार्थ से अधिक है; किन्तु यथार्थ पर तो आदर्श की भित्ति खड़ी हुई है। यथार्थ और आदर्श का उचित सामंजस्य ही सुनहले-रूपहले रंगों से भविष्य का द्वार खोलता है। कबीर की उग्र यथार्थ दृष्टि घोर अन्धविश्वास और आडम्बर पूर्ण बवण्डर से जीवन को सुरक्षित निकाल लायी। जैसे आदर्शवादी ने जीवन को विविध रंग रूपों में चित्रित करते हुए जो आदर्श के पाश में बाँधा है—वह किसी और से सम्भव न हो सका।

असिस्टेण्ट प्रोफेसर (हिन्दी)
राजाभोज शासकीय महाविद्यालय
मंडीदीप, जिला-रायसेन (म.प्र.)

अवनद्ध वाद्यों के वर्णों का भाषाई महत्त्व और विश्लेषण

–राहुल स्वर्णकार

"वर्ण" या पटाक्षर का अर्थ है अवनद्ध वाद्यों पर प्रयोग होने वाली ध्वनि जिनकी ध्वनि को शास्त्रकारों ने अपनी कल्पना अनुसार एक भाषा प्रदान कर स्वर और व्यंजन के सम्मिलित रूप में निर्धारित किया है। सामान्यतः वाद्यों पर निकलने वाली ध्वनियों को मनुष्य की वाणी में तथा मनुष्य की वाणी को वाद्यों पर हूबहू नहीं निकला जा सकता। अतः इन वाद्यों से उत्पन्न ध्वनियों को नामांकित कर उन्हें पाटवर्ण, पटाक्षर या हस्त पाट भी कहा जाता है। वास्तव मे इन शब्दों का सृजन विद्यार्थियों को सहज रीती से तालाभ्यास कराने के उद्देश्य से किया गया है। वाद्यों पर प्रायोगिक प्रदर्शन से पहले इन पाट वर्णों का मौखिक अभ्यास पारम्परिक शिक्षा पद्धति में विद्यार्थियों को कराया जाता था। पढ़ंत एवं उच्चारण में उन्नत हो जाने के पश्चात् वादन के लिए उपयोगी इन पाट वर्णों को अवनद्ध वाद्यों पर बजाने की प्रथा प्रचार में थी।[1] उत्तर भारतीय संगीत के अवनद्ध वाद्य पखावज के वर्ण निम्न प्रकार हैं–

मुख्य वर्ण - ता दीं न ते टे ग (घ) क

दाएँ भाग पर - ता दीं न ते टे

बाएँ भाग पर - ग (घ) क

इन सभी वर्णों से समस्त प्रकार के बोलों की उत्पत्ति की गई है।
पखावज के ही वर्णों से तबले के कुल 10 वर्ण निर्मित किये गए हैं–

"तबले के दस वर्ण हैं गुनिजन कहत बखान ।
बाजत छः दाएँ दो बाएँ दो मिश्रित कर जान ।।
दाएँ पर दीं ता तिट तू ना बाएँ क ग मान ।
धा धिन बजत न एक हाँथ दोनों लगत समान।।[2]

भारतीय शास्त्रीय संगीत और साहित्य में वर्णों का एक विशेष स्थान है। जिसके तहत नाना प्रकार की ध्वनियों के द्वारा विभिन्न विषयों की भाषा के रूप में उनका विकास एवं विस्तार संभव हुआ है। प्राचीन संगीत प्रणाली में भी वर्ण शब्द का प्रचुरता के साथ प्रयोग हुआ है। सामान्यतः वर्ण शब्द किसी भी सांगीतिक ध्वनि को गाने या बजाने से उत्पन्न भाव तथा भाषा के लिए प्रयोग होता है किन्तु जैसा की संगीत रत्नाकर में कहा गया है की "गायन वादन नृत्यम्

त्रयम् संगीत मुच्यते'' अर्थात् गायन, वादन व नृत्य का सम्मिलित रूप ही संगीत कहा जा सकता है। अतः तीनों विधाओं में प्रचलित भाषा का अपना साहित्य और बंदिशों का स्थान शास्त्रों के आधार पर निर्धारित किया गया है। इन सभी विधाओं में वर्णों का स्थान भी निर्धारित है, किन्तु ध्वनि शास्त्र के अधार पर इन वर्णों को बंदिशों के माध्यम से प्रदर्शित किया जाता है। सामान्यतः ''गाने बजाने की की प्रत्यक्ष क्रिया को वर्ण कहा गया है।'' गायन विधा में स्वरों को आलाप आदि क्रियाओं के द्वारा जब क्रियात्मक रूप से रखा जाता है तो वह वर्ण क्रिया है और वह राग की अवधारणा संभव होती है।[3]

अवनद्य वाद्यों के पाट वर्णों के द्वारा मात्राओं और मात्राओं से छन्द की उत्पत्ति होती है, यही छन्द तालों का जनक माना जाता है। डॉ. अरुण कुमार सेन के अनुसार उनकी पुस्तक 'भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन' में साहित्य में छन्द और संगीत में ताल का समावेश स्वाभाविक रूप से हुआ होगा। छन्द और ताल में कई तरह की समानताएँ भी देखी जा सकती हैं, जैसे—मात्राओं (संगीत की सबसे छोटी इकाई) और विभागादी की परस्पर गणना।[4] अवनद्य वाद्यों पर वादनीय पटाक्षर एक मात्रिक से प्रारंभ होकर आवश्यकतानुसार प्रयोग किये जाते हैं।

एक मात्रिक — धा
दो मात्रिक — धागे तिट धाती धीना आदि
तीन मात्रिक — धगेन, धेतक, धात्रक, धिकिट धतिट
चार मात्रिक — धातिधागे, धिनगिन धागेतिट, गदिगन, तिरकिट आदि
पाँच मात्रिक — धातिधागेन, धातिधातिट, घेनधागेन, आदि
छः मात्रिक — तिनतिनाकिन, धागेतिनकिन, धागेतिरकिट आदि

आगे आने वाले वर्णों को दो, तीन, चार आदि मात्राओं को जोड़कर निर्मित किया जा सकता है, किन्तु यह पद्धति प्राचीन मार्गी एवं देशी संगीत के लिए ही उपर्युक्त थी। इनका लोप होने के बाद वर्तमान प्रचलित संगीत शैलियों में बोलों को जातियों के आधार पर चयनित किया एवं पहचाना जाता है। इनकी संख्या पाँच है। त्रयस्त्र (तीन मात्रिक), चतुरस्त्र (चार मात्रिक), खंड (पाँच मात्रिक), मिश्र (सात मात्रिक), संकीर्ण (नौ मात्रिक)। मुख्यतः इन्हीं पाँच जातियों पर आधारित वर्तमान संगीत के समस्त बोल, वर्ण, पटाक्षर आदि आश्रित हैं। सर्वप्रथम आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में त्रयस्त्र (तीन मात्रिक), चतुरस्त्र (चार मात्रिक) जातियों का उल्लेख किया है, जिनमें वर्तमान सदृश्य तीन और चार मात्राओं के वर्णों का अस्तित्व मिलता है।[5]

कखगघटठडढतथदधमरलह इति षोडशाक्षराणी ह (स्युरू) ।
नियंत पुष्करवाद्ये वाक्करणे संविधेयानि'' ।।[6]

नाट्यशास्त्र में पुष्कर वाद्यों के सन्दर्भ में मृदंग, पणव, दर्दुर, आदि वाद्यों के लिए 16 पाट वर्ण निर्धारित किये हैं - क, ख, ग, घ, ट, ठ, ड, ढ, त, थ, द, ध, म, र, ल, ह का वर्णन किया है।[7] 13 वीं सदी में पंडित शारंगदेव ने संगीत रत्नाकर के अध्याय छः में अवनद्य के बारे

में दो प्रकार के पटह (मार्गी, देशी) का उल्लेख किया है। इनके वर्णों को पाट या हस्तपाट कहा गया है जिनकी संख्या सात है।[8]

13 वीं शताब्दी के प्रसिद्ध ग्रन्थ संगीतोपनिषत्सारोद्वार में आचार्य सुधाकलश में पखावज, ढोल (ढोलक), स्कंधावज आदि वाद्यों का उल्लेख किया है। अतः इन वाद्यों की वादन शैली और वर्ण भी अवनद्य वाद्यों के साथ में चले आ रहे हैं।[9]

मार्गी संगीत में प्रयुक्त ताल और वर्ण

मार्ग ताल पद्धति भारतीय ताल प्रणालियों की प्राचीन प्रणाली है। इसका उल्लेख वैदिक संगीत में प्राप्त होता है। वैदिक ग्रंथों में सामवेद में प्राप्त संगीत का जो स्वरूप था वो आगे बढ़ते हुए भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में सामभिन्न संगीत के रूप तक आया। सामभिन्न संगीत से अभिप्राय जो साम संगीत का स्वरूप था उससे भिन्न जो भी संगीत की प्रणाली थी जो उस समय प्रचलित थी। संगीत की यह प्रणाली बहुत ही वैज्ञानिक थी। उसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं था। यह एक ऐसा कारण था कि कालान्तर में गांधर्व संगीत पद्धति लुप्त हो गयी।

मार्ग शब्द का अर्थ –

मार्ग शब्द का अर्थ है– जिसे खोजकर संस्कारों द्वारा, परिष्कृत कर प्राप्त किया गया अर्थात् जो पूर्व से विद्मान है। उसके तत्वों को, उसके तथ्यों को ठीक उसी रूप में समझा जिस रूप में वो हैं, जिसमें किसी भी प्रकार का जोड़ना या घटाना हमारे द्वारा वर्जित था। मार्गी संगीत ब्रह्मा द्वारा खोजा और शंकर के सामने प्रस्तुत किया तथा भरतादी के द्वारा संसार के सामने लाया गया। मार्गताल प्रणाली के अंतर्गत पाँच प्रकार के ताल मुख्य रूप से पहचाने गये। इनकी संख्या या स्वरूप में कभी कोई परिवर्तन नहीं हुआ। ये ताल हैं–

चच्चतपुटः
चाचपुटः
षटपितापुत्रकः
सम्पक्वेष्टाकः
उद्‌घट्टः

सर्वप्रथम् हम इन तालों और इनके पटाक्षरों को समझें कि ताल का स्वरूप– जैसे हम आज समझते हैं– वह पहले बहुत भिन्न और व्यापक था। बाहर से देखने पर लगेगा कि यह बहुत ही क्लिष्ठ रूप था परंतु समझने के पश्चात ज्ञात होगा कि यह भी बहुत सहज एवं वैसे ही सुबोधगम्य है जैसे हम आज की ताल प्रणाली को प्रयुक्त करते हैं। संगीत रत्नाकर में कहा गया है–

तालस्तल प्रतिष्ठायामीति धातोर्घञ स्मृता।
गीत वादयं तथा नृत्यं यतस्ताले प्रतिष्ठितम् ।।

अर्थात् ताल वह है जो तल धातु में 'घञ' प्रत्यय लगने से उत्पन्न हुआ। यह संस्कृत सम्मत ताल की व्याख्या है। ताल जो गीत वाद्य एवं नृत्य को आधार प्रदान करे। ताल स्वयं किन-किन तत्वों से मिलकर बना है इसके लिए भरतमुनि ने कहा है–

वाद्यं तु यदधनं प्रोक्तं कलापातलयान्वितः।।

अर्थात् वह ताल जो घन वाद्य पर प्रयुक्त होता है, वह ताल, कला, पात एवं लय के संयोग से बनता है। यहाँ प्रयुक्त कला, पात एवं लय ही वह पारिभाषित शब्द हैं जो ताल की रचना करते हैं। पात के अंतर्गत सशब्द-निशब्द क्रिया जिनके द्वारा ताल को अभिव्यक्त करना है जैसे एक काल का परिच्छेद एक विशेष कालखण्ड। उक्त ताल का लक्षण उदाहरण के लिए समझिए– लघु गुरु लघु (। ऽ।) है। संस्कृत साहित्य के छंदशास्त्र के आधार पर इनका मान निर्धारित किया गया जैसे लघु का मान निर्धारित करने के लिए 5 लघु अक्षर काल। इस लघु अक्षर काल को संगीत का लघु बनाने के लिए छंदशास्त्र के 5 लघु अक्षर कालः– (क च ट त प) ये हिन्दी वर्णमाला के प्रत्येक वर्ण की पंक्ति का प्रथम अक्षर है। यह पाँच लघु अक्षर काल के मान के बराबर निरंतर चलने वाली क्रिया के उपरांत ही एक लघु निर्धारित होता है जो संगीत का प्रयोग किया जाने वाला ताल शास्त्र का लघु बनता है। उदाहरण– हिन्दी वर्णमाला की प्रत्येक पंक्ति का पहला अक्षर–

क	च	ट	त	प
क	च	ट	त	प
क	च	ट	त	प
क	च	ट	त	प

इसमें प्रत्येक 'क' पर ताल देना है बाकी च ट त प को मूक कर दीजिये सिर्फ हाथों से क्रिया कीजिये। इस प्रकार इस अंतराल से ही संगीत के एक लघु का निर्माण हुआ। लघु का निर्माण होने के पश्चात गुरू, लघु का दोगुना एवं प्लुत, लघु का तीन गुना होता है।

लघुः–

ताली	क	च	ट	त	प

गुरुः–

ताली	क	च	ट	त	प
	क	च	ट	त	प

प्लुतः–

ताली	क	च	ट	त	प
क	च	ट	त	प	
क	च	ट	त	प	

इन सभी कालमानों को किसी अवनद्य वाद्य पर वादन न करके हाथों द्वारा क्रियाओं (सशब्द, निशब्द) के द्वारा प्रस्तुत किया जाता था।[10]

देशी ताल पद्धति में प्रयुक्त ताल और वर्ण

साधारण अर्थों में देशी संगीत को ही लोक संगीत माना जाता है किन्तु ऐसा नहीं है। लोक संगीत देशी संगीत का एक प्रकार है। बृहद्देशी में मार्ग और देशी का तथा 'संगीत रत्नाकर' में चारों शब्दों का प्रयोग प्राप्त होता है। देशी संगीत के स्वरूप को स्पष्ट करने की दृष्टि से यह उल्लेख प्रासंगिक है।

अबलाबाल गोपालैः क्षितिपालैर्निजेच्छया।
गीयते यानुरागेण स्वदेशे देशिरूच्यते।।

अर्थात् स्त्री, पुरुष, बच्चे तथा राजा प्रत्येक अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार जिसे गाते हैं, तथा देश-देश (स्थान-स्थान) की रुचि के अनुसार प्रयुक्त होने वाला संगीत देशी संगीत है। 'संगीत रत्नाकर' नामक ग्रंथ के तालाध्याय में देशी तालों की संख्या मुख्यतः 120 है तथा इसी ग्रन्थ के प्रबन्धाध्याय में प्रबन्ध भेदों में प्रयुक्त ताल के भेद-प्रभेदों को मिलाकर देशी तालों की संख्या 154 प्राप्त होती है।[11]

देशी ताल का रचना सिद्धान्त

मार्ग ताल में छंद शास्त्र के– क च ट त प प्रचार में थे जो लघु के मान को पाँच अक्षरकाल के द्वारा गिने जाते थे। वहीं देशी संगीत में लघु अब हिन्दी वर्णमाल के– क ख ग घ अं अर्थात पाँच अक्षरकाल या क ख ग घ अर्थात चार अक्षरकाल के द्वारा गिना जाने लगा। ये चार और पाँच मात्र के अक्षर काल के लचीलेपन के कारण सांगीतिक रचनाएँ विलंबित और द्रुत की ओर बढ़ने लगीं।

देशी तालों के वर्णो के प्रयोग का माध्यम

जहाँ मार्गी तालों को प्रस्तुत करने का माध्यम हाँथ की सशब्द निशब्द क्रिया थीं। आगे चलकर यह पद्धति भी समाप्त हो गई। यहाँ हम अभी तक अवनद्य वाद्यों का प्रयोग नहीं कर रहे थे क्योंकि तालों को अंगों के द्वारा ही व्यक्त किया जा सकता था, मात्राओं के द्वारा नहीं। देशी तालों को प्रस्तुत करने के लिए एक माध्यम था ''कांस्यताल'' जो वर्तमान मंजीरे के सदृश्य घन वाद्य था। इस मंजीरे पर सशब्द-निशब्द क्रिया के सीमित हुए स्वरूप को खाली-भरी के द्वारा घुमाकर या बंद करके दिखाया जाता था। देशी ताल में छोटे से लेकर शिंघ नन्दन जैसे 28 मात्रा तक के बड़े ताल का प्रयोग किया जाता था।

देशीताल के वर्णों का वर्तमान स्वरूप

देशी ताल जिनमें अंगों का प्रयोग किया जाता था इन तालों को जब मात्रा के रूप में परिवर्तित किया गया तो इनमें से कई ताल तो आज भी ठीक उसी रूप में प्रयोग में आ रहे हैं जो लगभग 15 वीं शताब्दी में प्रयोग में आते थे जैसे :– चौताल, अर्जुनताल, गजझंपा, एकताल, बसंत ताल, ब्रह्मताल, रुद्र ताल आदि देशी ताल के ही प्रकार हैं।

वर्तमान अवनद्य वाद्यों में वर्ण

वर्तमान अवनद्य वाद्यों की यदि चर्चा की जाये तो सर्वश्रेष्ठ वाद्य के रूप में पखावज और तबला को ही स्थान प्राप्त है। तबला वाद्य ही ऐसा वाद्य है जिसमें सभी अवनद्य वाद्यों के वर्ण, बोली और भाषा को पर्याप्त स्थान दिया गया है। अतः आज तबला वाद्य समस्त अवनद्य वाद्यों का पर्याय बन चुका है। जो तबले में नहीं, वो कहीं नहीं। विश्व के किसी भी अवनद्य वाद्य की भाषा और वर्णों को इस वाद्य पर मिलती-जुलती ध्वनि और अपने बोलों की विपुलता के साथ प्रस्तुत किया जा सकता है। इसी कारण इस वाद्य पर कई लोक और शास्त्रीय वाद्यों की शैली को स्पष्ट रूप से पहचाना जा सकता है। तबले की निर्मिती में कई वाद्यों की झलक देखी जा सकती है। कहा जाता है कि प्रसिद्ध ढोलकिये उस्ताद हुसैन खान ने प्रतिस्पर्धा उपरान्त भवानीदास से हारने के बाद अपने दाहिने हाँथ को काटकर तबले जैसे वाद्य की परिकल्पना की। इस प्रकार ढोलक की शैली तबले पर प्रयोग की गई।[12]

एक मतानुसार पखावज को बीच से काटकर (दो भाग करके भी बोला, तब भी बोला, तबबोला, तबला) तबले की उत्पत्ति मानी जाती है। कई विचारों से पखावज वाद्य का विकसित रूप तबला बना। अतः पखावज के खुले बोल जैसे धागेतिट, गदिगन, आदि तबले की बंदिशों में प्रयोग किये जाते हैं जिनका प्रयोग पूरब बाज के बनारस, लखनऊ और पंजाब आदि घरानों में विशेष रूप से किया जाता है।

उत्तर भारत में पखावज के बाद तबला वाद्य 18 वीं सदी से ही प्रचार में आ गया जब उस्ताद सिद्धार खाँ ने सर्वप्रथम तबले पर आंटे के स्थान पर स्याही का प्रयोग किया तभी से तबले पर पखावज के स्थान पर बंद बाज की नींव रखी गई तथा नवीन घरानों की संकल्पना प्रारम्भ हुई। तभी से तबले के नए-नए बोल प्रचार में आए।[13] तांसा, दुक्कड़ या वे सभी लोकवाद्य जो किनार पर हाथों से या डंडियों से प्रहार करके बजाये जाते हैं उनमें प्रयुक्त वर्ण– नाना, नाडा, और रचनाओं को तबले के पश्चिम बाज के दिल्ली और अजराडा घराना की वादन शैली में प्रयोग किया जा है तो वहीं लोक, सुगम विधाओं की संगत के लिए लग्गी-लड़ी जैसी रचना जो लोक शैली में प्रयोग की जाती है उनमें तबले के इन वर्णों का वादन प्रचुरता से किया जाता है।

जैसेः- धाती धागे तिन किन, धाती धागे धीन गिन, तिट धागे तिन किन, धाती घेन तिन किन

प्रत्येक क्षेत्र के लोक संगीत में वहाँ के लोक वाद्यों की वादन शैली का प्रभाव होता है। प्रायः लोक वाद्य तीखी ध्वनि उत्पन्न करने वाले होते हैं चूँकि लोक संगीत के गायन प्रकार भी खुले गले तथा तीव्र ध्वनि प्रधान तथा तार सप्तक के स्वरों में अधिक प्रयोग होती हैं अतः ऐसे वाद्य जिनके वर्णों की ध्वनि तीक्ष्ण, तीव्र और दूर तक सुनाई देने वाली हो इनका प्रयोग इन गायन, वादन व नृत्य के प्रकारों में संगत के लिए किया जाता है।

तंत्र वाद्यों के वर्ण

जिस प्रकार अवनद्य वाद्यों पर बजाये जाने वाले वर्णों को तालों और बोलों के माध्यम से व्यक्त किया जाता है उसी प्रकार तंत्र वाद्यों पर आघात द्वारा कुछ निश्चित वर्णों का प्रयोग किया जाता है। जहाँ अवनद्य वाद्य ताल एवं लय धारण करने के लिए निर्मित हुए हैं। भाषा और भाव के लिए उनकी अपनी शब्दावली है जिनमें स्वर पक्ष का उतना महत्व नहीं है तो वहीं स्वर वाद्य जैसे सितार, सरोद, वीणा आदि पर भाषाई तत्व और भावों को स्वरों के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है जिनके लिए शब्दों से साम्यता रखने वाले वर्ण दिर, दा, दारा, दिर, दारदा इत्यादि के द्वारा विभिन्न निकास विधियों से रागों और धुनों का प्रस्तुतिकरण संभव होता है।[14]

कथक नृत्य में प्रयुक्त वर्ण

कथक मे प्रयुक्त वर्णों में ततकार या पैरों के काम को ताल-वाद्यों के आधार पर विकसित किया गया है। जैसे तबले की तालीम में तीनताल का ठेका सिखाने पर कायदा पल्टा, गत, आदि चीजें क्रम से सिखाई जाती हैं, ठीक उसी तरह कथक में सर्वप्रथम त्रिताल के ततकार :- ''ता थेई थेई तत आ थेई थेई तत'' सिखाये जाते हैं। ततकार का मूल वर्णन ''तत'' है। इसके वजन का ताल का ठेका, अवनद्य वाद्य के तीन ताल का ठेका हो सकता है।

कथक के बोलः—	ता	थेई	थेई	तत ।	आ	थेई	थेई	तत
तबले के बोलः—	धा	धि	धि	धा ।	धा	धि	धि	धा

इन मूल बोलों के अतिरिक्त ''तिगदा, दिगदिग, थेई, थरीकिट, धिलांग, थुंगा आदि वर्ण ही नृत्य में प्रयोग किये जाते हैं। चूँकि कत्थक नृत्य में अवनद्य वाद्यों के ही खास-खास बोलों का पैरों से अभ्यास किया जाता है। किसी प्रकार के स्वर विस्तार की गुंजाईश न होने के कारण अवनद्य वाद्यों के वर्ण जैसे— धाकिटतक, धुमकिटतक, धोगेतिट, घिडान आदि तबला-पखावज वाद्यों के अलग-अलग बोल की निकासी पैर या पगस्थली पर अलग-अलग पदाघात करने से होती है।[15]

निष्कर्ष

अवनद्य वाद्यों का जन्म और विकास संगीत को आधार प्रदान करने के उद्देश्य से किया गया है। इसी कारण प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक की समस्त शैलियों को आधार देने के

लिए समय-समय पर इन वर्णों की निर्मिती होती रही है। 19 वीं सदी के उत्तरार्ध और 20 वीं सदी के पूर्वार्ध में पंडित विष्णु नारायण भातखंडे जी और पंडित विष्णु दिगंबर पलुश्कर जी ने एक अभूतपूर्व कार्य किया। इन्होंने घरानेदार संगीत की बंदिशों को इन वर्णों के माध्यम से लुप्त होते संगीत को लिपिबद्ध करने का महान कार्य किया जिसके कारण भारतीय शास्त्रीय संगीत का लेखन प्रारंभ हो गया। बंदिशों का वर्णों के माध्यम से संरक्षण किया जाने लगा साथ ही नए साहित्य की भी निर्मिति आरंभ हो गई।[16] अवनद्य वाद्य की भाषा आज से लगभग 20-25 वर्ष पूर्व तक भाव प्रधान होने के अलावा भाषा की दृष्टि से उतनी प्रभावशाली प्रतीत नहीं होती थी जितनी संगीत की अन्य विधाएँ। किन्तु वर्तमान में जितना विकास तबला और अन्य अवनद्य वाद्यों ने किया शायद अन्य वाद्यों ने नहीं किया। रचनात्मक प्रयोगों से भाषाहीन प्रतीत होने वाले वर्ण अब कल्पनाशीलता के साथ अभूतपूर्व वृद्धि कर चुकी हैं। अवनद्य वाद्यों पर किसी दृष्टांत, कविताओं, सामाजिक और धार्मिक प्रभाव भी परिलक्षित दिखाई देता है। कई घरानों में भाषा के द्वारा स्तुति पाठ, विभिन्न प्रकार की रचनाओं जैसे गणेश परन, शिव परन इत्यादि रचनाओं में इनके स्वरूपों को वर्णों के माध्यम से स्पष्ट किया जा रहा है।

असिस्टेण्ट प्रोफेसर
संगीत विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)

सन्दर्भ :

1 सेन अरुण कुमार, भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन, मध्य प्रदेश हिंदी ग्रन्थ अकादमी, पृष्ठ 177
2 चिस्ती आर एस, तबला संचयन कनिष्क पब्लिकेशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 40, 41
3 कौर भगवंत, परंपरागत हिन्दुस्तानी सैद्धांतिक संगीत, कनिष्क पब्लिकेशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 62
4 वही, पृष्ठ 67
5 सिंह डॉ. लावण्या कीर्ति, भारतीय संगीत ग्रंथ, कनिष्क प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 16
6 भरत नाट्यशास्त्र 34/39
7 वही, पृष्ठ 24
8 वही, पृष्ठ 153
9 सुभद्रा चौधरी, संगीत संचयन
10 राम डॉ. सुदर्शन, तबले के घराने, वादन शैलियाँ एवं बंदिशें, पृष्ठ 23
11 चौधरी डॉ. सुभद्रा ,भारतीय संगीत में ताल और रूप विधान, कृष्ण ब्रदर्स अजमेर
12 राम डॉ. सुदर्शन, तबले के घराने, वादन शैलियाँ एवं बंदिशें, पृष्ठ 19
13 चिस्ती आर. एस. तबला संचयन, कनिष्क पब्लिकेशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 58
14 जाफरखानी बाज, उस्ताद हलीम जाफर खाँ
15 डॉ. प्रेम दुबे, कथक नृत्य परम्परा, पंचशील प्रकाशन, इलाहाबाद
16 चिस्ती आर एस, तबला संचयन, कनिष्क पब्लिकेशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 61

एक स्त्री-लेखक की तरह विकसित होते हुए

–राजी सेठ

कभी सोचा नहीं था कि लेखक बनना होगा। मैं ऐसी किसी आकांक्षा के साथ पैदा नहीं हुई, न ही लिखने या छपने की किसी गहरी इच्छा ने मेरे दरवाजे पर दस्तक दी। माना जाता है कि यदि कोई लेखक की दृष्टि से सम्पन्न होता है तो बिना लिखे भी लेखक होता है। यदि यह सच है तो भी मेरी इस बारे में कोई साफ राय नहीं है। नहीं जानती कि कोई अपने को प्रकाशित या सम्प्रेषित किये बिना कैसे दूसरे तक पहुँच सकता है। इतना जरूर जानती हूँ कि बचपन से ही गर्मियों की दोपहरियाँ, शाम के सन्नाटे और आधी रात की जगाई पढ़ने-लिखने में बीतती थी। अकेलापन मुझे कभी खलता नहीं रहा। स्वभाव से ही मैं एकान्तप्रिय, आत्म-संतुष्ट और संकोची रही हूँ।

जीवन जो मिला, उसके बारे में भी मेरे मन में कोई सवाल नहीं उठे। मुझे हमेशा लगा कि जीवन का जो टुकड़ा हमें मिलता है उसे ही व्यवस्थित और समायोजित करना होता है। यह हमारे जीने की एक अनिवार्य आस्तित्विक स्थिति है, उसमें हेर-फेर नहीं हो सकता। उसको मानकर चलने के बाद ही हमारी कार्यभूमि शुरू होती है। इसका यह अर्थ नहीं कि मेरे रुझानों और रुचियों के कोई चेहरे नहीं थे, पर मैं उसे दूसरों से अलग करके या अपने परिवेश से तोड़कर केवल अपने लिए जीने के लिए अपने को कभी तैयार नहीं कर सकी। वैसा कोई विकल्प मेरे सामने कभी रहा ही नहीं। शायद इसलिए ऐसा हुआ होगा कि एक लेखक हो जाने पर भी अपनी माँगों और शर्तों के साथ जीना मैंने नहीं सीखा। मेरी इस निराकुलता को स्त्री-विमर्श आत्मदमन का नाम देना चाह सकता है, जो मेरे भीतर के बैरोमीटर को कभी स्वीकार नहीं होता।

मुझे यह ज़रूर लगता रहा कि मेरे अंदर एक अपार, अरूप, अपारदर्शी धुँधलापन है जिसे मैं कभी साफ-साफ नहीं देख सकती। उसे उघाड़ने, साफ-साफ देखने या समझ लेने की मेरे अंदर एक भयंकर भूख है; पर मैं उस बारे में कुछ भी नहीं कर पा सकती। यह भी ठीक से नहीं जानती कि यह मेरी प्रकृति का ही हिस्सा है या कुछ और है। ऐसा कुछ जानने के लिए मुझे आत्मान्वेषण की गहराइयों में जाना पड़ता है, जो उतना आसान नहीं और सदा संभव भी नहीं। यह भी जरूरी नहीं कि ऐसा करते व्यक्ति उतना तटस्थ रह ही सके, जितना ऐसी

स्थिति में जरूरी होता है। इतना जानती रही कि होश सँभालने के साथ ही मेरे भीतर एक तरह का आर्तनाद मौजूद रहा है। मुझे लगता रहा है कि मैं एक समूची, संचित और एकाग्र इंसान नहीं हूँ। सच्चाई, ईमानदारी, नम्रता, करुणा जैसे गुणों में विश्वास रखने के बावजूद भी ऐसा नहीं है। मुझे ऐसा भी लगता रहा है कि ऐसी कोई जगह जरूर है कि जहाँ ऐसा खरापन, ऐसा एकीकरण मौजूद है; पर वह कौन-सी जगह है, वह कौन-सी दिशा है, इसका उत्तर मुझे नहीं मिल पाता रहा। जान नहीं पाती रही कि क्या कोई ऐसा रास्ता हो सकता है जिस ओर चलता इंसान अपने आपको ही बेचैन रखने या चाट डालने से बचा ले जाए।

इस तरह की बेचैनी बचपन की मेरी स्मृतियों के टुकड़ों से नत्थी है, जो इंसान को अन्ततः उन चीजों की ओर धकेलती है जो बाहरी जीवन में उपलब्ध नहीं है, पर जो खोज को, तड़प को गहराए बिना हाथ भी नहीं लगती। इस एहसास के बावजूद इस तड़प, खोज, स्वप्न या बेचैनी को पालने-पोसने, इससे दुलारने-पुचकारने की मेरे जीवन में कोई गुंजाइश नहीं रही।

मुझे अपना जीवन कभी एक निरन्तरता में चलता नहीं दिखा, बल्कि दो टुकड़ों में साफ-साफ बँटा हुआ दिखता है। एक लिखने लगने से पहले, एक लिखने के बाद। इस तीखे एहसास का एक कारण यह भी हो सकता है कि जिन्दगी के इन दोनों टुकड़ों का टेक्सचर अलग-अलग था और है। पहला हिस्सा बेहद कठिनाइयों और संघर्षों से भरा हुआ था। उस तरह के संघर्ष नहीं जिन्हें हम स्त्रीवादी मुहावरे में ठेठ स्त्रीवादी उत्पीड़न या उत्ताप कहते हैं, जो पॉलिटिकली करेक्ट और स्त्रीवादी मुहिम को आगे ले चलनेवाले होते हैं या जो उत्पीड़न से लड़ने के बाद स्वतन्त्रता के स्वाद का सुख देते हैं।

मेरे संघर्ष दूसरे थे। ये मेरे माता-पिता, भाई-बहिनों और मेरे परिवार से जुड़े हुए थे, जो देश के विभाजन की विभीषिका में से गुजरते एक नए भूखण्ड में, एक अलग संस्कृति और सभ्याचार के बीच फिर से खड़े होने और जिन्दगी को जीने योग्य बनाने के लिए खट-पट रहे थे। हमारे मन में अपना-अपना अलग-अलग कुछ नहीं था। हम सब कभी एक और कभी दूसरी चीज के मिलने या न मिलने पर एक साथ हँसने-रोने में हिस्सेदार थे। यह बात अलग है कि माँ-पिता न कभी रोए, न रोना सिखाया। उनके लिए आजादी की जंग में सबकुछ खो देना बहुत बड़ी बात नहीं थी। वे न कभी दीन-हीन हुए, न दीन-हीन होने दिया; इसलिए हमारे घर में बहुत-सी असम्भव बातें होती रहीं, जैसे—लड़कियों का पढ़-लिख जाना, भाइयों का अनपढ़ रह जाना। जैसे लड़कियों को अच्छा घर-वर, धन-वैभव, पद-प्रतिष्ठा का मिल जाना, भाइयों-भाभियों की किस्मत का आज तक पलटा न खाना। नाती-नातिनों का विदेश के आकाश छू आना, पोते-पोतियों का कस्बों की जिन्दगी और उसकी गलाजत से अभी तक न उभर पाना। एक-सी जिन्दगी में हिस्सेदारी करते-करते इस तरह तो अपने सुख पर भी अपराध-बोध होने लगता

है। ऐसे वातावरण में पलते-बढ़ते, ऐसे अनुभवों के बीच जीते रहने का एक स्त्री की साइकी पर क्या असर पड़ता है, यह विचारणीय बात है।

आजादी मिले अब तो पचास साल से ज्यादा हो चुके। अभी तक हमारा कोई निजी पैतृक घर नहीं बन पाया। मेरी भाभियाँ बिना जेवर-जेवरात के शहर में सम्मान से रहने की आदी हो चुकी हैं। अभी तक वह गड्ढ़ों भरी जमीन एकसार और दीवारें मजबूत नहीं हो सकीं जिन पर मेरे पिता का परिवार पहले-पहल आकर खड़ा हुआ था। ऐसे अनुभवों के बीच किस तरह की स्त्री बन सकती है, बताने की जरूरत नहीं।

यों भी इन सब बातों का जिक्र मुझे इसलिए नापसंद रहा कि साहित्य के संसार में दुःखों को दोहने का एक चस्केदार चलन है; जैसे कि दुःख अपने में अलग-थलग कोई चीज है, जिसका सुख से परिप्रेक्ष्य पाने का कोई रिश्ता नहीं है। बाद के दिनों में तो खैर, लेखक का जीवन जीते वैसे भी दुःख से, यंत्रणा से, यातना से रिश्ता बदलता जाता है। मेरा ही नहीं, हर लेखक का बदल जाता है। स्थिति के इस एहसास ने 'दुःख उनको भी थे'(1975) कविता को जन्म दिया था–

'दुःख उनको भी थे : मुझे भी
चीरते, टीसते-सालते उन्हें भी रहे : मुझे भी
भय, घृणा, क्षोभ, त्रास से वे भी जूझे : मैं भी
घट दुर्घट
अरक्षा आघात
उन पर भी रहे : मुझ पर भी
मेरा दुःख महत्त बना
क्योंकि मेरे पास शब्द हैं
कह पाने के हथियार
सह पाने की अक्षमता।

तभी तो वे सब चुप हैं
मैं कह रही हूँ
रचनारत क्या कभी सहता है
हर दर्द की संहिता बनाकर रहता है।'

लेखक यंत्रणा का अपनी तरह इस्तेमाल करता है और मुक्ति के आस्वाद और अमरता के प्रलोभन को साथ लिए एक लम्बा फासला तय करता है। वह यातनाओं को तरल बनाकर जीवन के कठोर धरातल पर छेद बना-बनाकर हर जगह ढुलकाता जा सकता है। यदि कहूँ

कि स्त्री की सामूहिक मनस को पढ़ने की समस्या भी इसी वस्तुगत तरीके से एक मुद्दे की तरह देखी जा सकती है, तो मेरा कथन क्षम्य होना चाहिए।

जीवन के दूसरे खंड का जिक्र करते मैं उन सब संसारी या अलेखकीय जीवन- पढ़ाई-शादी, घर-गृहस्थी, बच्चों की घटनाओं को छूने नहीं जा रही जो सबके जीवन में लगभग एक से होते हैं। मेरे लिए यह अजीब बात है कि लेखन जैसे कर्म की शुरुआत मेरे जीवन में किसी गहरी इच्छाशक्ति, किसी स्वप्नमोह, उद्विग्न कल्पनाशक्ति या अतीतजीवी होने के मोह से नहीं हुई। मेरे लिए सबकुछ भयानक उचाट, अवसाद, व्यर्थता-बोध और आत्महंता घुटन के तीखेपन में से पैदा हुआ। मुझे जो लगा करता था कि नियति और अस्तित्व की जमीन को लेकर कभी सवाल नहीं उठते, वे सवाल भी उठने लगे थे कि संसार में क्या कुछ और भी है जो हमारे अस्तित्व, हमारी सारी क्षमताओं से ज्यादा बड़ा, ज्यादा स्थिर, मजबूत और दमदार है? वह क्या है जो मेरे इस निर्प्रश्नीय आत्मतोष को घायल कर रहा है और मेरे बिखराव को बढ़ा रहा है? अस्तित्व की मजबूरियों को धता बता देने के रास्ते कहाँ और किधर से जाते हैं?

नकारात्मकता के ठंडे साम्राज्य से जैसी क्रूर और जिद्दी संकल्पवानता जागती है, उसकी आक्रामकता के धक्के से ठिलते हुए मैंने अपनी छूटी पढ़ाई फिर से शुरू की—शादी के बारह वर्षों बाद। स्कर्ट और फ्रॉक पहने छोटे-छोटे कद की ताजातर उत्साहवाली लड़कियों के साथ क्लॉस-रूम की बेंचों पर रोज-दर-रोज बैठकर। उनके उपहास और सायास दूरी का शिकार बनते हुए। पहले छह महीने तो आत्मविश्वास धराशायी हुआ रहा। लगा, चीजों के बारे में समझ और सोच गहरी जरूर हुई है; पर स्मृति में उन्हें रोक रखने की क्षमता ध्वस्त हो चुकी है। अंग्रेजी साहित्य का इतिहास लगता था अंग्रेजी में नहीं, लैटिन-ग्रीक में लिखा हुआ है। बाद में तो खैर सबकुछ काबू में आने लगा था। लगा, साहित्य के अध्ययन में जैसी अन्तरंगता है, मौलिकता को आत्मसात करने का जैसा साहस है वह और कहीं नहीं है। अपने किसी भी रूप में साहित्य स्तब्ध और निर्मूल्य नहीं है। आगे चलकर अनुभवों को कीमती मानने का हौसला शायद इसी एहसास में से पैदा हुआ होगा।

याद आता है, जिस सुबह एम.ए. पार्ट-2 का अन्तिम पेपर था, उससे पिछली रात बुखार में तपते मैंने एक साथ बीस-इक्कीस कविताएँ लिखीं थीं। तब एक हार्दिक-सा सूत्र हाथ लगा था कि मेरे लिए आत्मिक अनुकूलता में जीने का यही एक रास्ता है—अक्षरों के संसार में बने होना। यही मेरी मानसिक परिधि में पड़ता है, क्योंकि बचपन से आज तक अपनी फुरसत के निजी साम्राज्य में पढ़ने-लिखने के सिवा मैंने कुछ और चुनना नहीं चाहा। यदि अब तक लिखी जाती चिंदियों, डायरियों, लम्बे पत्रों, कविताओं व्यक्तिचित्रों, अधलिखी इबारतों का कोई अर्थ नहीं निकलता रहा तो शायद इसलिए कि प्रकाशित कराना या होना मेरी इच्छा के दायरे में कभी शामिल नहीं रहा और जब शामिल हुआ तो कुछ ऐसे जैसे किनारे की थुलथुल

रेत में बरसों बँधी नाव अचानक पानी में उतर पड़ती है।

पहली कहानी 1974 में 'नया प्रतीक' में छपी थी, दूसरी 'विकल्प', फिर 'धर्मयुग'. फिर 'कहानी' में। अज्ञेय, मटियानी, भारती और श्रीपत राय की स्वीकृति और शाबाशी का एक नए-नकोर लेखक के लिए क्या अर्थ हो सकता है, यह बताने की जरूरत नहीं। सन् 1935 में जनमी मैं तब अपने चालीसवें में पहुँच रही थी— एक पर दूसरे लदते आते अनुभवों की मंजूषा के साथ, जिसमें कोई तरतीब बिठाना मुश्किल रहा।

कथावस्तु ढूँढने में मैंने हमेशा अपने से दूर जाने की चेष्टा की, पर मेरे करीबी लोगों का दावा है कि अपनी हर रचना में मैं खिंच-खिंच कर केन्द्र में आ जाती रही हूँ। जरूर रही होऊँगी, रचनाओं के रूप में मेरे ताश के सारे पत्ते सामने बिखरे पड़े हैं। चेतन-अचेतन की इस लुका-छिपी में रचनाकार के ऐसे उपार्जन को कौन नहीं जानता? स्त्रीवादी विमर्श इसे सेल्फ-सेंसर के खाते में डालता रहा है। उनके कथन को पूरी तरह मानती भी नहीं, इनकार भी नहीं करती। यह मानती हूँ कि लिखनेवाला सहता नहीं है। हर दुःख का एक पोथा बनाकर रहता है। अभिव्यक्ति की छूट मिल जाने से सेंसर का वही अर्थ रहता भी कहाँ है? वैसे भी ढेरों कठिनाइयों के बीच सधता जीवन चारों दिशाओं से खुला हुआ कोई चौराहा नहीं होता, जहाँ हर किसी की उत्सुकताएँ बीचोबीच आकर खड़ी हो जाने का हक पा जाएँ। लेखक की प्रतिबद्धता सार्वजनीन है; पर व्यक्ति की निजता और चुनाव के हक को रौंदते हुए नहीं। ये अलग तरह के सवाल हैं, इन्हें यहीं छोड़ देना ही अच्छा है।

एक स्त्री के लिए लिखने लगना जिन्दगी के एक दूसरे चरण में तैर जाने के समान है, जहाँ दूसरे लोग भी आपको आपके परिचित खोल में से किसी दूसरे व्यक्तित्व के निकलते आने को बदहवासी से आश्चर्यचकित होकर देखते हैं, दुःखी-सुखी होते हैं कि इस केन्द्र में उनके लिए जगह क्यों नहीं है। लिखना ऐसा कर्म है जहाँ समय चाहिए, समय की गुणवत्ता, शुद्ध अपने लिए अपना आप चाहिए, बाहर का ज्ञान चाहिए, भीतर की एकाग्रता चाहिए। आस-पास ठुँसी हुई हवा किसी लेखक को अनुकूल नहीं पड़ सकती। अपनी जिन्दगी के जिन हिस्सों को हम व्यवस्थित करके जी रहे होते हैं, वहाँ काँटे उगने लगते हैं। जल्दी ही समझ में आने लगता है कि लिखने के लिए बड़े युद्धस्थलों में जाने की जरूरत नहीं है, रचने की प्राथमिकताओं की लड़ाई तो अपने घरों की जमीन और परिवेश से ही लड़नी होती है। परिवार और अपना परिवेश ही एक बहुत बड़ा समाज है जो आपके छोटे-से-छोटे तन्तु तक को छूता है, इसलिए आपको कभी अकेला नहीं छोड़ता। सारी-की-सारी ऊर्जा अपने को बचाने और अनुकूल वातावरण पाने में खप सकती है। तब लगता है जिन कारणों और गुणों के कारण स्त्री स्त्री है वे केन्द्र बदले नहीं हैं, स्थिर हैं। विश्वास से कह सकती हूँ कि किसी स्त्री का स्त्री होना उसके आत्मविकास में बाधक नहीं है। बाधाएँ बाहर की हैं, परिवेश की हैं, अनुकूल समय

न पाने की हैं, लिखने की सुविधा का स्थान न पाने की हैं। परिजनों को अपने स्पेस, अपने एकान्त की जरूरतों का चरित्र न समझा पाने की हैं। बाधाएँ हाथ से खिसकते समय की भी हैं, स्वास्थ्य की हैं तथा अपने आस-पास माँगों और खरोंचोंवाला साहित्यिक संसार रच लेने की भी हैं।

लिखने लगने के बाद बहुत-सी चीजें एक छोटे से स्वत्व में धँसने की कोशिश कर रही होती हैं। उसमें अपना परिवार, अगली पीढ़ी का परिवार, साहित्यिक परिवार और सफलताओं के चलते चुनौतियों के रूप में जन्म लेता एक और अन्दरूनी बेनाम परिवार शामिल हो जाता है। यह स्थिति तो हर लेखक ने जानी होगी कि किस तरह पिछले अनुभवों के खपते जाने से चेतना में नए समवाय बनने लगते हैं और रचने की प्रक्रिया अनन्तकाल तक चलते रहने का इल्यूजन पैदा करती रहती है।

जहाँ तक मेरे जीवन का सवाल है, उसमें कुछ सुविधाएँ भी हैं। लेखक बनने के कठिनतर संघर्ष में मेरे अन्यथा असहिष्णु पति खूब सहिष्णु और सहयोगी बने रहे हैं। पति-पत्नी के सम्बन्ध में, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष—किसी का भी किसी लेखक नाम के जीव के साथ जीना आसान नहीं है, क्योंकि सम्बन्ध की निजता से लेखन का निजी स्पेस प्रतिपल ध्वस्त होता रहता है और स्पेस के विस्तार से सम्बन्ध घायल होता है। यह एक दुर्गम रास्ता है। बीतते वर्षों के साथ-साथ जिन्दगी जिस स्निग्धता, सहजता, मधुरता, द्रवणशीलता को छीन लेती है और जोड़ों के बीच नमी की कमी से जैसी कटुता, जैसा रुखापन पसर आता है, उसे भी लेखन के खाते में डाल देने से कठिनाइयाँ बढ़ती जाती हैं, घटती नहीं। दोनों ओर मानसिक हिंसा बढ़ती है। स्त्री-विमर्श के समर्थन में यह अध्ययन-मनन का विषय हो सकता है। दूसरे उम्रदराज दम्पतियों की तरह हमने भी अपने हिस्से की बहसें, झगड़े, असहमतियाँ, हिंसाएँ, शोर और तनतनाहट पैदा करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है; पर इतनी चिन्ता तो दोनों ओर बनी रही है कि यह युद्ध लेखन और सृजन की जमीन पर न लड़े जाएँ। उसके लिए हम सरहदों के बाहर टहल जाएँ और वास्तविकता को तटस्थ होकर देखें। पुरुषों के अहं के लिए शायद यह कठिन परीक्षा होती होगी।

एक सृजनकामी स्त्री होने के अतिरिक्त स्वीकृति मुझे किसी और कारण से मिले ऐसी मेरी मनोकामना नहीं है। अपनी माँगों और अपेक्षाओं को लेकर मैं शायद जीवन में बहुत यथार्थवादी रही हूँ और उन्हें जीने की सम्भावनाओं के समतल ही रखा है...यह तो अब जाकर पता लगा कि इसी कारण से मुझे बहुत से तनावों, दबावों, दुःखों, आकांक्षाओं, समझौतों, प्रलोभनों से मुक्ति मिल जाती रही है। मुक्ति का स्वाद बड़ा ही मादक और उत्कर्ष भरा होता है—यह तो उसी दिन पता लग गया था जब लिखने लगने की प्रक्रिया में मुझे अपने दो अलग-अलग हिस्से एक ही जगह जुड़ते लगे थे।

मुझे लगा था मन-वचन-कर्म को एक स्तर पर पाना ही समूचेपन अपनी एकाग्रता को पाना है। अपने आपसे बड़ी किसी चीज को अपने जीवनकाल में ही पहचान पाना निष्ठा और समर्पण के चेहरे को पहचान पाना है। प्रसाद जी की 'कामायनी' मेरे लिए संसार की सबसे बड़ी और सफल किताब रही है। संयोग देखिये, यही पुस्तक अपने स्कूल कॉलेज के दिनों में मुझे दो बार पुरस्कार में भी मिली। प्रसाद जी मुझे क्यों साहित्यकार से ज्यादा एक उपासक लगे थे, यह एक बात मैंने तब समझी जब उनकी इन पंक्तियों पर मैं बार-बार अटकती रही–

'ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की,
एक-दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की।'

इन्हीं पंक्तियों पर मैं आज भी अटकी हूँ। मैंने इनमें आस्था नहीं खोई है। आस्था जब भी खोई अपनी क्षमता में खोई है, जिसे बार-बार अपना सिर काट कर गलाजत की धूल में लोट-लोट कर निरावृत्त, निरहं होकर उसी-उसी रास्ते पर लौट-लौटकर आना पड़ा है!

एम-16 साकेत
नई दिल्ली–110017

कैसी हो हमारी शिक्षा?

–ज्योत्स्ना मिलन

शिक्षा को लेकर जितना शोर पिछले वर्षों में होता रहा है और अभी भी जारी है उतना शोर पहले कभी नहीं रहा। दावा तो यह भी किया गया था कि वर्ष 2001 तक भारत में एक भी व्यक्ति निरक्षर नहीं रहेगा। अभी वर्ष 2010 चल रहा है और वर्ष 2009 के आँकड़ों के मुताबिक भारत में साक्षरता की तादाद 64.84% दर्ज़ हुई है। इसके अलावा यह भी कि अभी भी स्त्रियों और पुरुषों के प्रतिशत में काफी बड़ा अंतर है। पुरुषों की साक्षरता की तादाद 2009 में 75.26% थी और स्त्रियों की तादाद 54.28%। कहा जा सकता है कि संपूर्ण साक्षरता की मंज़िल अभी बहुत दूर है।

यों देखा जाए तो 'साक्षरता अभियान', 'सर्वशिक्षा अभियान' जैसे अभियानों और 'राजीव गाँधी शिक्षा मिशन' जैसे मिशनों की कोई कमी नहीं है। इनके पास पैसों की भी कमी नहीं है। इस सबके बावजूद यह सवाल बना हुआ है कि भारत के हर व्यक्ति को साक्षर करने का सपना पूरा क्यों नहीं हो पा रहा है? कमी पैसों की नहीं है, फिर किस चीज़ की कमी है? कोई भी मुहिम इस देश में तभी सफल हो सकती है, जब वह लोकमुहिम बने। देश के करोड़ों लोगों पर मुट्ठी भर लोगों की सोच न थोपी जाए। लोगों को उस मुहिम का हिस्सा बनाया जाए, उसमें उनकी भागीदारी को सुनिश्चित किया जाये। उन्हें विश्वास दिलाया जाए कि पढ़ना-लिखना क्यों ज़रूरी है। और कितना ज़रूरी है? बिना उन्हें आश्वस्त किये ये मुहिमें या अभियान कभी परिणामकारी नहीं हो सकते।

महात्मा गाँधी ने सवाल पूछा था कि 'शिक्षा यानी क्या?' और जवाब देते हुए कहा था 'अगर इसका (शिक्षा का) अर्थ अक्षरज्ञान जितना ही हो तब तो वह हथियारस्वरूप हो जाएगी। जिसका सदुपयोग भी हो सकता है और दुरुपयोग भी। अक्षर ज्ञान का भी ऐसा ही है।' आमतौर पर अक्षरज्ञान को ही शिक्षा कहा जाता है। लोगों को पढ़ना, लिखना, हिसाब-किताब करना सिखाने को शिक्षा देना माना जाता है। इस दृष्टि से भी हमारे समाज में स्त्रियों में निरक्षरता अभी भी कम नहीं है और स्त्रियों को पढ़ना-लिखना सिखाने का काम आसान नहीं है। नयी पीढ़ी की बहन-बेटियाँ तो अब कुछ न कुछ पढ़-लिख रही हैं। लेकिन हमारी उन स्त्रियों में भी पढ़ने का उत्साह अभी बचा हुआ है जो आधी उम्र पार कर आई हैं। वे भी 'सेवा' जैसी संस्थाओं से

जुड़ी होने पर साक्षर होने का मौका पा जाती हैं या मोहल्ले की पढ़ी-लिखी बहन-बेटियों से अपने फुरसत के समय में पढ़-लिख लेती हैं। इनके लिए तो अक्षरज्ञान और आँकड़ों का ज्ञान भी काफी है कि वे ठगी न जाएँ, कि वे बस का सही नम्बर पढ़ पाएँ और गलत बसों में भटकने से बच जाएँ, कि वे किसी भी धंधे की तालीम लेने जाएँ और बोर्ड पर लिखकर जो ब्यौरे समझाएँ जाएँ उन्हें दर्ज़ कर पाएँ, कि सिलाई का ठीक नाप ले पाएँ। हिसाब-किताब न जानने की वजह से भी हमारी गरीब, अनपढ़ स्त्रियाँ साहूकारों, मालिकों और बिचौलियों के शोषण का शिकार होती रही हैं, यह बात तो सभी जानते हैं। आज के समय में जब हमारी ये स्त्रियाँ कई तरह के कामों में लगी हैं और सीधे लेन-देन कर रही हैं, तब कम से कम अक्षरज्ञान जितनी शिक्षा तो उनके लिए ज़रूरी हो ही गई है।

गाँधीजी ने शिक्षा के संदर्भ में कुछ बहुत बुनियादी बातों का आग्रह रखा था जैसे—बालकों और बालिकाओं को साथ-साथ शिक्षा दी जानी चाहिए। बच्चों का अधिक समय शारीरिक काम में लगना चाहिए, वह भी शिक्षक की निगरानी में और इस शारीरिक काम को शिक्षा का अंग होना चाहिए। हर बालक-बालिका के झुकाव को परखकर उसे कोई काम सौंपा जाए। अक्षरज्ञान से पहले उन्हें सामान्य ज्ञान दिया जाना चाहिए। लिखने से पहले पढ़ना सिखाएँ। बच्चों को जबरन कुछ न सिखाया जाए। और वे जो कुछ सीखें उसमें उन्हें रस आना चाहिए। बच्चे को शिक्षा खेल की तरह लगनी चाहिए। खेल भी शिक्षा का ज़रूरी हिस्सा है। धार्मिक शिक्षा को आवश्यक समझा जाए। उन्होंने शिक्षा के काल को तीन खंडों में बाँटा था और उनका आग्रह था कि हर काल में आवश्यकता के मुताबिक अक्षरज्ञान के समय को बढ़ाना चाहिए। अगर माँ-बाप का निश्चित धंधा हो तो बच्चों को उस धंधे का ज्ञान मिलना ज़रूरी है। सोलह साल के लड़के-लड़कियों को सीना-पिरोना, खाना-पकाना आना चाहिए। नौ साल के बाद की शिक्षा स्वावलंबी होनी चाहिए यानी कि विद्यार्थी सीखते-सीखते ऐसे उद्योगों में लगा रहे कि उसके उत्पादन से स्कूल का खर्च चले। शिक्षा मातृभाषा में ही दी जानी चाहिए, हिन्दी-उर्दू को राष्ट्रभाषा के तौर पर और अंग्रेज़ी को दूसरे राष्ट्रों के साथ व्यवहार के लिए भाषा के तौर पर पढ़ाएँ।

गाँधीजी ने स्त्री-शिक्षा में संस्कार पक्ष पर बल दिया है, और लड़के-लड़कियों की शिक्षा में कुछ फर्क भी किया है। लेकिन उन्होंने यह भी लिखा है कि 'मैं अपने विचारों को इस बारे में निश्चयात्मक नहीं कर पाया हूँ। फिर भी यह दृढ़ता से मानता हूँ कि जितनी सुविधा पुरुष को उतनी ही स्त्री को मिलनी चाहिए और जहाँ विशेष सुविधा की ज़रूरत हो वहाँ विशेष सुविधा मिलनी चाहिए।'

गाँधी जी ने हमेशा एक बात कही है कि उन्होंने पहले जो विचार व्यक्त किये हों, उनमें अनुभव के चलते जब भी बदलाव आया है, उसे भी स्वीकार और दर्ज़ किया है। हमने अपनी

शिक्षा में गाँधीजी के सबसे मौलिक एवं मूलभूत सुझाव को देश की आज़ादी के बाद जगह नहीं दी, यह हमारी सबसे बड़ी चूक है। सब कोई औपचारिक शिक्षा की पात्रता भी नहीं रखते। कुछ लोगों का दिमाग अधिक सक्रिय होता है, कुछ के हाथ और हाथ की उँगलियाँ और साथ में उनकी कल्पना भी। इसलिए शिक्षा में बुनियादी तालीम को शुरू से ही जगह देने का गाँधीजी का आग्रह जनहित में था बल्कि कहें सबके हित में था। शुरू में तो कहीं-कहीं बुनियादी-तालीम केन्द्र खुले भी थे और कुछ समय तक काम करते भी रहे थे। लेकिन ये बुनियादी तालीम केन्द्र जितनी जल्दी, जिस तरह से गायब हुए उसी से पता चलता है कि हमारे शिक्षा तंत्र की उसमें कितनी आस्था थी, वे इससे कितने आश्वस्त थे? अगर सरकार की और लोगों की, गाँधीजी द्वारा सुझाई इस शिक्षा प्रणाली में आस्था होती, तो भारत की तस्वीर कुछ अलग होती। अक्षरज्ञान का माध्यम उद्योग होता तो हो सकता है तब इतनी बेकारी चारों ओर न होती।

हम मानते हैं कि 'विद्या विनयेन शोभते', विद्या विनय से शोभित होती है पर अपना अनुभव शिक्षा के मामले में हताश करने वाला अनुभव है। कई बार देखने में आया कि हमारे बच्चे पढ़-लिखकर भी बेकार घूमते रहते हैं। कई तरह के काम उन्हें ऐसे काम लगते हैं जिन्हें करने में उन्हें हतक महसूस होती है, पढ़े-लिखे होकर बागवानी कैसे की जा सकती है? गाय-भैंसे कैसे चराई जा सकती हैं? खाना कैसे पकाया जा सकता है या कंडे कैसे थोपे जा सकते हैं? बात गाँवों की हो या शहरों की, इस मामले में पढ़े-लिखे लड़के-लड़कियों की सोच लगभग एक-सी मिली। यानी हम कह सकते हैं कि हमारी औपचारिक शिक्षा हमें काम में भेद करना सिखाती है, काम को छोटा-बड़ा बनाती है। गाँधीजी जैसे व्यक्ति जो अभी-अभी हमारे बीच हो गुज़रे हैं, उनका कहना था कि 'कोई भी काम, काम होता है, वह छोट-बड़ा नहीं होता।' उनके आश्रम में आकर रहना चाहने वाले व्यक्ति की वहाँ रह पाने की पात्रता की कसौटी शौचालय की सफाई का काम होता था इस शिक्षा ने अधिकतर लोगों को बेकार बनाया है, वे कहीं के नहीं रहे। न उनके पास कोई हुनर है, न कोई दूसरा काम, ऊपर से पढ़े-लिखे होने का अहंकार अलग पनप जाता है।

अपने गाँवों के या शहरों के भी अनपढ़ और गरीब लोगों के प्रति हिकारत का सा भाव उनके मन में घर कर जाता है, जैसे वे पढ़े-लिखे नहीं हैं यानी वे अज्ञानी हैं, जाहिल हैं, गँवार हैं। जबकि हकीकत में पढ़े-लिखे भले वे न हों पर, जीवन के अनुभव से उपजा ज्ञान उनके पास भरपूर होता है। हमारे किसानों को जमीन की, मिट्टी की ठीक-ठाक जानकारी परंपरा से संवर्धित होती हुई विरासत में मिलती रही है। जमीन का, मिट्टी का रख-रखाव, बीज की हिफाजत, मेड़ पर कौन से पेड़, कितने कैसे लगेंगे, खाद कैसे तैयार की जाएगी? बारिश कब आएगी? सब कुछ का संचित ज्ञान उन्हें विरासत में मिलता रहा था। नयी तकनीकों, रासायनिक खादों, नये उपकरणों ने उनके ज्ञान को गड़बड़ा दिया है। वे अपने ज्ञान को छोड़कर नये के फेर

में पड़ गये हैं, अपनी मिट्टी से, अपने बीज से उनका वह लगाव भी नहीं रहा। यही बात और भी कामों के बारे में कही जा सकती है। पढ़-लिखकर पिता के पारंपरिक धंधों के ज्ञान को सहेजना, उनके काम को लगाव और चाव से करना नई पीढ़ी को जरा भी नहीं रुचता। पढ़े-लिखों, गैर-पढ़े-लिखों के काम अलग हो गये हैं, वे सम्मानजनक या असम्मानजनक हो गये हैं। स्त्रियों के और पुरुषों के काम हो गये हैं। जैसे घर में कपड़े धोना, खाना पकाना, झाड़ू लगाना आदि काम औरतों के काम माने जाते हैं। अगर सवाल पूछा जाए कि बड़े-बड़े होटलों में खाना कौन पकाता है? लॉण्ड्री में कपड़े कौन धोता है? दफ्तरों में सफाई कौन करता है? चक्की पर गेहूँ कौन पीसता है? तो जवाब होगा कि पुरुष। फिर आप पूछेंगे फिर ये औरतों के काम कैसे हुए? तब आपको जवाब मिलेगा कि 'ये तो रोज़ी के काम हैं, रोज़गार है।' तब आप सोचने पर मजबूर होंगे कि—'यानी अब समझ में आया कि खाना पकाकर, कपड़े धोकर पैसे मिलते हों तब वे काम आदमियों के हो जाते हैं और घर में मुफ्त किये जाते हैं इसलिए वे औरतों के काम कहलाते हैं।'

हमारी स्त्रियों के हिस्से सदा घर का काम रहा और लड़कियों को पढ़ाने के खिलाफ यह तर्क, कि पढ़-लिखकर क्या करोगी, करना तो चूल्हा-चौका ही है! इसके अलावा स्त्रियों के ऊपर बुद्धिहीनता का आरोप कि 'स्त्री की बुद्धि पैर के तलुए में' और उसकी औकात पैर की जूती बराबर, कभी भी बदल लो। पर अब जब स्त्रियों को पढ़-लिखकर अपने को साबित करने का मौका मिला है तो शिक्षा और हुनर दोनों से सुसज्जित होकर वह आगे बढ़ते जाना चाहती है। उसमें आत्मविश्वास जागा है, वह अपनी क्षमता को पहचान रही है, बल्कि वह उससे चमत्कृत भी है।

हम जब पढ़ते थे तो निजी स्कूल तो गिने-चुने ही थे, वे भी लो-प्रोफाइल वाले थे, लेकिन सरकारी स्कूलों में जाना आम बात थी। आज की तरह सरकारी स्कूलों में निचले तबके के लोगों के बच्चे ही नहीं जाते थे, मध्यवर्ग, उच्च मध्यवर्ग के भी सभी बच्चे जाया करते थे। आमतौर पर ये स्कूल घर के आसपास ही होते थे यानी बच्चों की पैदल पहुँच में। जिनके लिए किसी तरह के वाहन की ज़रूरत नहीं होती थी। अध्यापक बच्चे के भी माता-पिता के संपर्क में भी रहते थे। गलत आचरण को लेकर डाँटते थे तो समझाते भी थे। आज सरकारी स्कूलों को बंद करने की तैयारी में ही सरकार लगी है और माँ बाप भी अपने बच्चों को दूर के, तथाकथित अच्छे और महँगे स्कूलों में भेजना ही चुनते हैं। परिणामस्वरूप हर तबके के बच्चों का साथ-साथ पलना, बढ़ना, पढ़ना-लिखना संभव नहीं रह गया है। स्कूलों के घर से दूर होने के कारण बच्चे ऑटो से, वैन से या बसों से स्कूल जाते हैं। सुबह सात बजे से निकले बच्चे ऊँघते हुए जाते हैं और दोपहर दो-तीन बजे ऊँघते हुए, थके-माँदे लौटते हैं। तिस पर ढेर सारा 'होमवर्क' भी होता है। यानी सबसे अधिक कटौती उनके खेल के समय में होती है। पिछले वर्षों में इस बीच

एक और राक्षस, कार्टून-नेटवर्क के रूप में विकसित हो गया है और बच्चे उसकी गिरफ्त में जकड़ते जा रहे हैं।

मैं सदा कहती आई हूँ (जब मुझे कोठारी आयोग की पड़ोसी स्कूल की सिफारिश का पता भी नहीं था) कि हमारे बच्चे हमारे मोहल्ले के ही स्कूल में क्यों न पढ़ें? मोहल्ले के स्कूल को अच्छा स्कूल क्यों नहीं होना चाहिए? अगर माता-पिता चाहें और दिलचस्पी लें तो यह अब भी असंभव बात नहीं है। रोज़ टैंकरों पेट्रोल स्कूल वाहनों में फुँकता है और बच्चों को खेलने कूदने का समय भी।

हमारा मध्यवर्ग विशेष और महँगे स्कूलों का आग्रही होता जा रहा है। वह समझ ही नहीं पा रहा है कि वह अभी भी मानसिक रूप से गुलाम ही है। महँगी शिक्षा अच्छी ही होगी इसका क्या भरोसा है? इसके अलावा यह भी कि तकनीकी शिक्षा के विशेष स्कूल हमारे देश में खोलना चाहने वाले देशों के इरादे साफ हैं कि भारत के होशियार तकनीशियन पढ़-लिखकर उनके काम आएँ, उनके देश में रहकर नौकरी करें। लेकिन न तो हम, न हमारी सरकार कुछ भी समझने को तैयार है। सब कुछ जानते-बूझते गूंगे-बहरे बने बैठे रहना चाहते हैं।

अभी-अभी अप्रैल में भारत सरकार ने पड़ोसी स्कूल वाली कोठारी आयोग की सिफारिश का भोंडा मज़ाक उड़ाते हुए नयी शिक्षा नीति लागू की है। सिर्फ शिक्षा को अनिवार्य करने से ही समस्या हल नहीं होने वाली है, उस शिक्षा का स्वरूप क्या हो, कैसा हो-यह भी सोचना जरूरी है। एक-दो किलोमीटर के रेडियस का प्राईवेट स्कूल जिसमें पचहत्तर प्रतिशत बच्चे नवधनाढ्य वर्ग के हों और उन्हीं स्कूलों में स्वेच्छा से नहीं, आरक्षित की तरह पच्चीस प्रतिशत बच्चे आसपास की गरीब बस्तियों के भी जबरन थोप दिये जाएँ यह कोठारी आयोग की पड़ोसी स्कूल की परिकल्पना तो कतई नहीं कही जा सकती। हर वर्ग, हर तबके के बच्चे साथ-साथ पले-बढ़े यही पड़ोसी स्कूल का मतलब है।

हमने आज़ादी के इतने सालों बाद भी अपने देश के लोगों के अनुरूप कोई शिक्षा प्रणाली विकसित की ही नहीं है। जो प्रणाली अंग्रेज़ों ने हमें दी उसी को अपने ज्यों का त्यों ले लिया। औद्योगिक देशों और कृषि प्रधान देशों की शिक्षा एक सी कैसे हो सकती है? आज भी हम अपने बच्चों को जैसे दूसरे देशों की ज़रूरत के हिसाब से पढ़ा रहे हैं। अब देश के शिक्षाविदों को चाहिए कि वे अपने अनुरूप शिक्षा-प्रणाली विकसित करने का प्रयत्न करें, जिसमें औपचारिक शिक्षा हुनर यानी उद्योग के माध्यम से दी जा सके। शिक्षा से बच्चे का सर्वांगीण विकास तभी हो सकता है, जब बच्चों की बुद्धि, उनके भावजगत, उनके कल्पनाजगत और उनके कर्मजगत (यानी हाथ से किये जाने वाले कारीगारी के काम) को खिलने के, विकसित होने के अधिक से अधिक अवसर उन्हें घर में तथा स्कूल, कॉलेजों में सुलभ हो सकें। इस दृष्टि से शिक्षा के संबंध में विचार करने की सख़्त ज़रूरत है। यह तभी संभव है, जब हमारा सत्त्व जागृत हो।

एम-4, निरालानगर,
भदभदा रोड, भोपाल (म.प्र.)

किसने कहा था ?

('उसने कहा था' के विशेष सन्दर्भ में)

–कान्तिकुमार जैन

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की कहानी 'उसने कहा था' मैंने ग्यारहवीं कक्षा के छात्र के रूप में पहिली बार सन् 1948 में पढ़ी थी। जब मझौनिया मास्टर साहब कक्षा में पूरी कहानी पढ़ा और समझा चुके तो मैंने उनसे पूछा कि सर! कहानी के शीर्षक में जिसके लिए 'उसने' सर्वनाम आया है, वह कौन थी? मझौनिया साहब बहुत अच्छे अध्यापक थे पर वे नहीं बतला पाये थे। तब से आज तक मैंने 'उसने कहा था' कहानी बीसियों बार अपने छात्रों को पढ़ायी होगी पर मुझे अभी तक इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिला कि लहना सिंह से 'धत्' कहने वाली, नीले सालू वाली वह लड़की थी कौन, उसका नाम क्या था। 25 साल बाद जमादार लहना सिंह से अपने पति और पुत्र के प्राणों की रक्षा का वचन मांगने वाली सूबेदारनी का आखिर कुछ तो नाम रहा ही होगा, पर गुलेरी जी जैसे उस लड़की, उस सूबेदारनी का नाम न बताने की कसम खाये बैठे हैं। क्या कहानीकार की यह सावधानी किसी चूकवश है या इसमें राज है कोई गहरा? मैं उस लड़की को, उस सूबेदारिनी को अनामिका रहे आये देने को कहानीकार की कोई चूक मानने को तैयार नहीं हूँ। मुझे लगता है कि 'उसने कहा था' कहानी किसी एक लड़के या लड़की की कहानी भर नहीं है, यह हर युग के, हर देश के उस लड़के या लड़की की कहानी है जिसके मन में विषमलिंगी के प्रति सहज आकर्षण और जिज्ञासा उत्पन्न होती है–वही आकर्षण जिसे अंग्रेजी में CALF LOVE कहते हैं। यह लड़का या लड़की बीसवीं शताब्दी में हो तो क्या, अमृतसर में हो तो क्या, वह कभी भी होती है, कहीं भी होती है। उसके मन में ठीक वैसा ही आकर्षण पैदा होता है जैसा अमृतसर के उस बाजार में आठ साल की लड़की और चौदह साल के उस लड़के के मन में जन्मा था। 'उसने कहा था' चिरंतन किशोर और चिरंतन किशोरी के मन में उत्पन्न होने वाले नैसर्गिक आकर्षण की कहानी है। कहानीकार चन्द्रधर शर्मा गुलेरी दिक्कालातीत किशोर और किशोरी के मन में अंकुरित होने वाले इस आकर्षण को किसी एक लड़के या लड़की तक ही सीमिति नहीं रखते, उसे प्रकृति का एक सहज व्यापार, एक चिरंतन वृत्ति, एक नामातीत आकर्षण के रूप में प्रस्तुत करना चाहते हैं इसलिए वे रजिन्दर कौर के नहीं, सतविन्दर कौर के नहीं, किसी खास कुड़ी के नहीं, हर उस लड़की के मन की परतें हमारे सामने खोलते

हैं जिसकी अभी 'कुड़माई' नहीं हुई है। कोई भी लड़की किसी भी ऐसे लड़के को आजीवन नहीं भूलती जिसने पहिली बार उसके लड़कीत्व को सराहा हो, उसके सम्बन्ध में रुचि ली हो। तो जो लड़का 14 साल का हो और 8 साल की लड़की से पूछे 'तेरी कुड़माई हो गयी' वह न आजीवन उस लड़की को भूल पायेगा और न वह लड़की ही उस लड़के को अपनी स्मृति के धवल कोष से बाहर कर पायेगी। कहानीकार उस लड़के और उस लड़की का नाम तो नहीं बताता, इतना जरूर बताता है कि दोनों सिख हैं- 'उसके बालों और इसके ढीले सुथने से जान पड़ता था कि दोनों सिख हैं।' दोनों में बातचीत भी होती है— 'तेरे घर कहाँ है, और तेरे' जैसी जिज्ञासाओं का आदान-प्रदान भी होता है। पर यह सहज कौतुक महीने भर ही चला—लड़का अभी सीरियस नहीं है—एक दिन जब फिर लड़के ने वैसे ही हँसी में चिढ़ाने के लिए पूछा तो लड़की लड़के की संभावना के विरुद्ध बोली—हाँ, हो गयी। देखते नहीं यह रेशम से कढ़ा हुआ सालू। बस इस सूचना ने लड़के को आहत कर दिया। लड़की की कुड़माई हो गयी है तो ऐसे प्रश्न पूछना निरर्थक है, लड़की को चिढ़ाना बेमानी। जिस पर तकिया था वही पत्ते जब हवा देने लग जायें तो लड़का क्या करेगा— रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेलेगा, एक छाबड़ी वाले को दिनभर की कमाई खोने को बाध्य करेगा, एक कुत्ते को पत्थर मारेगा और एक गोभी वाले के ठेले में दूध उड़ेल देगा, सामने नहा धोकर आयी हुई किसी वैष्णवी से टकरायेगा और अंधे की उपाधि पायेगा। लड़की की कुड़माई की सूचना लड़के को विद्रोही बना देती है, उसे अव्यवस्थित कर देती है, उसके भीतर असंतोष का बीज बो देती है और जीवन भर के लिए उसे बलिदानी बना देती है। मैंने कहीं पढ़ा था कि युद्ध में चरम बलिदान वही करते हैं जो जीवन में प्रेम में असफल हो चुके होते हैं।

मैं समझता हूँ कि हिन्दी भाषी समाज में 'कुड़माई' 'उसने कहा था' के प्रकाशित होने के पूर्व प्रचलित नहीं था। हिन्दी और उसकी बोलियाँ बोलने वाले लोग 'मंगनी' तो जानते थे पर 'कुड़माई' नहीं। मंगनी के लिए पंजाबी कुड़माई शब्द का प्रयोग पहिली बार गुलेरी जी ने किया। क्या यह अनजाने, असावधानीवश या यूँही किया गया है या इसके पीछे भी कोई राज है गहरा। मैं समझता हूँ कि गुलेरी जी के शब्द प्रयोगों के पीछे एक सावधान दृष्टि है। कहानी में स्थानीयता को पुष्ट करने के लिए, स्थानीय रंगत प्रदान करने के लिए गुलेरी जी पंजाबी शब्दों का जानबूझकर प्रयोग करते हैं। 'उसने कहा था' की कथा अमृतसर के बाजार से प्रारम्भ होती है जहाँ बंबूकार्ट चलते हैं। गुलेरी जी चाहते तो तांगे, इक्के या बग्घी लिख सकते थे पर पंजाब में बांस से बनी हुई गाड़ियाँ चलती हैं— बंबू से बनी हुई कार्ट। इन गाड़ियों में रबर के ट्यूब और टायर वाले चक्के लगे होते हैं। फलतः न तो उनमें खड़-खड़ होनी है, न अन्य किसी तरह की आवाज। सड़क पर चलने वाले पांव-पैदलों को सावधान करने के लिए ताँगे वाले, इक्के वाले या बग्घी वाले को, गाड़ीवान को जोर-जोर से आवाज लगानी पड़ती है—'हट जा, जीणे जोगिए',

'हट जा करमा वालिए', 'हट जा पुत्तां प्यारिए', 'बच जा, लंबी वालिए'

गुलेरी जी के इन वाक्यों से अमृतसर के बाजार का चित्र तो खड़ा होता ही है, वहाँ के घोड़ों से जुते बंबू वाहनों के चालकों की शालीनता, अभिरुचि और आत्मीयता भी प्रकट होती है। गुलेरी जी पहले 'बच जा' जैसे वाक्याशों का प्रयोग करते हैं। उन्हें यह प्रतीति होती रहती है कि हिन्दी भाषी पाठक इन पंजाबी जुमलों का अर्थ शायद ही हृदयंगम कर पायें। फलतः वे लिखने को बाध्य होते हैं– 'समष्टि में इसका अर्थ है कि तू जीने योग्य है, तू भाग्यों वाली है, पुत्रों को प्यारी है, लंबी उमर तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहियों के नीचे आना चाहती है? बच जा'। इस 'वचनावली' को गुलेरी जी 'चेतावनी' नहीं 'चितौनी' कहते हैं। हिन्दी पाठक चेतावनी और चितौनी की तद्रूपता समझता है। अतः गुलेरी जी को चितौनी का हिन्दी समानार्थी देने की आवश्यकता नहीं पड़ती। कहानी के संपादक आचार्य प्रवर महावीर प्रसाद द्विवेदी को भी नहीं पड़ती पर वह कहानीकार सालू, उदमि, सौहरा, पट्ट, छुपा तीमियों, घुमा जैसे ठेठ पंजाबी शब्दों का प्रयोग करता है तो वह पाद टिप्पणियों में उनके हिन्दी समानार्थी देना नहीं भूलता। सुथन्ना, बूटा, झटका जैसे शब्दों से हिन्दी वाले अपरिचित नहीं हैं। बरानकोट जैसै शब्द निश्चय ही अंग्रेजी के ब्राउनकोट का अपभ्रंश हैं। यह भूरे रंग का लंबा ओवरकोट होता है जो ठंड से बचने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। गुलेरी जी ने पंजाबी के कई बड़े व्यंजक मुहावरों का प्रयोग किया है जैसे 'आँख पलकते-पलकते'। पता नहीं सम्पादक महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इसे आँख मारते-मारते क्यों कर दिया? ऐसे ही गुलेरी जी के 'उसने देखा कि लपटन साहब ने जेब से तीन बेल के बराबर गोले निकाले' को 'उसने देखा कि लपटन साहब ने जेब से बेल के बराबर तीन गोले निकाले' करना क्यों आवश्यक समझा। हाँ, जर्मन लपटन साहब लहना सिंह की बंदूक के कुन्दे के वार से चित्त होते होते चिल्लाये– 'आँख! मीन गौट्ट'। न तो गुलेरी जी ने, न ही संपादक प्रवर ने इसका हिन्दी अनुवाद करने की जरूरत समझी। 'आह! माई गॉड'। गुलेरी रचनावली के संपादक ने अवश्य आँख! मीन गौट्ट का पाद टिप्पणी में अर्थ दिया है–'हाय! मेरे राम!' (जर्मन) किन्तु, हिन्दी का समझदार पाठक 'आँख मीन गौट्ट' को न समझ सके, ऐसा भी नासमझ नहीं है। मुझे याद है प्रेमचंद जी ने अपनी एक कहानी में एक बंगाली पात्र से कहलवाया है–'सालेर बेटा कुछे तेई माने न' । इसको लेकर उन दिनों हिन्दी आलोचकों ने बड़ा हाय-हल्ला मचाया था। कहा था कि क्या प्रेमचन्द जी का कोई पात्र चीनी होगा, तो क्या वे उससे चीनी बुलवायेंगे? नहीं, उससे चीनी बुलवाना तो उचित नहीं होता पर नकली लपटन साहब की असलियत खोलने के लिए 'आँख! मीन गौट्ट' बुलवाना ही उचित है। भावातिरेक में व्यक्ति अपनी मातृभाषा ही बोलता है।

कहानी में एक आदरवाची प्रत्यय 'होरां' का प्रयोग दो बार हुआ है– 'लाड़ी होरां'। 'होरां' किसी इण्डोजर्मेनिक भाषा का प्रत्यय प्रतीत होता है, जो बुन्देली में बिन्ना हरें, छत्तीसगढ़ी

में दाई हर के रूप में अभी भी निश्चयार्थक प्रत्यय के रूप में व्यवहृत होता है। कुछ विद्वानों ने इस हर या हरैं का सम्बन्ध जर्मन के हर से जोड़ा है— हर हिटलर; पर हर, हरैं, होरा या सर सभी संस्कृत के श्री के रूपांतरण हैं।

हिन्दी के कुछ चतुर सुजान समीक्षकों ने 'उसने कहा था' की हिन्दी को अपभ्रष्ट हिन्दी माना है। यही नहीं, अपने उत्साह के अतिरेक में वे 'मैला आँचल' और 'ज़िन्दगीनामा' की हिन्दी को भी अपभ्रष्ट हिन्दी मानते हैं। उन्होंने अपनी ये पवित्र मंशा भी प्रकट की है कि इन जैसी अपभ्रष्ट हिन्दी में रचित महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का परिनिष्ठित हिन्दी में रूपान्तरण किया जाये। वे यह भूल जाते हैं कि ये या इन जैसी कृतियाँ महत्त्वपूर्ण इसीलिए हैं कि वे 'अपभ्रष्ट' हिन्दी में हैं। इन्हें परिनिष्ठित हिन्दी में रूपांतरित करने से इनकी रूप विशिष्टता, इनका सहज सौन्दर्य नष्ट हो जायेगा। महाकवि बाल्मीकि ने बस्तर की प्रसिद्ध नदी इन्द्रावती को अष्टवक्रा कहा है। इन्द्रावती की विशेषता है कि आप एक स्थान पर खड़े होकर उसे बहुत दूर तक नहीं देख सकते। वह इतनी मुड़ी-तुड़ी है कि महाकवि को उसे अष्टवक्रा कहना पड़ा। अब इस अष्टवक्रा इन्द्रावती को आप नहर में बदलना चाहें तो आप इन्द्रावती के महान शत्रु ही माने जायेंगे। इन चतुर सुजानों को वन को वन ही रहने देना चाहिये, उन्हें उपवन में तब्दील करने का मूढ़ प्रयास नहीं करना चाहिये। गुलेरी जी तो हिन्दी की प्रारम्भिक कहानी लिख रहे थे। परवर्त्ती कथाकारों ने समझ लिया था कि कहानी में आकर्षण पैदा करने के लिए, उसे स्थानीयता से रंगने के लिए इस प्रकार के भाषा प्रयोग आवश्यक होते हैं। अनुभवी किसान जानता है कि जब शरबती गेहूँ की फसल कम होने लगती है तो वह उसमें कठिया बो देता है। इससे फसल अच्छी आती है। हिन्दी के कथाकार जब अपने-अपने क्षेत्रों से हिन्दी में आयेंगे तो वे अपनी बोलियों की रंगत लेकर आयेंगे।

'उसने कहा था' ऐसी कहानी है जिसे हिन्दी के विद्यार्थियों की न जाने कितनी पीढ़ियों ने पढ़ा है। पर उस कहानी का मूल पाठ कुछ ही लोगों ने पढ़ा होगा। जो पढ़ा है वह विश्वविद्यालयों की पाठ्यपुस्तकों में संकलित संपादित पाठ है। इस पाठ में यह उल्लेख तो है कि दाड़ियों वाले घरबारी सिख लुच्चों का कोई गीत गाते हैं पर विश्वविद्यालयीन 'कोमल मति' और 'अनुभवहीन' छात्र-छात्राओं का चरित्र भ्रष्ट न हो जाये, इसलिए कहानी-संकलनों के धीर गंभीर उदात्त चरित्रवान संपादक 'लुच्चों के गीत' को पाठ्यक्रम से निकालते रहे हैं। 1915 के जून की 'सरस्वती' में प्रकाशित कहानी के दाड़ियों वाले घरबारी सिख जो गीत गाते हैं, वह इस प्रकार है—

दिल्ली शहर तें पिशौर नुं जांदिए,
कर लेणा लौंगा दा बपार मडिए;
कर लेणा नाड़ेदा सौदा अड़िए—
(ओय) लाणा चटाका कदुए नुं।
कद्दू बणया वे मजेदार गोरिए
हुण लाणा चटाका कदुये नुं।।

इस गीत में प्रयुक्त लौंग, नाड़े, कद्दू और चटखारे का अर्थ समझाने के लिए पाद टिप्पणी में भाषांतरण भी दिया गया है। यहाँ यह स्मरणीय है कि मूल पंजाबी गीत परम शुचितावादी, आदर्शवादी और नैतिकतावादी माने जाने वाले संपादकाचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के संपादकत्व में प्रकाशित हुआ था जिसने कहानी के एक एक शब्द को बारीकी से देखा-परखा था। तब न लेखक को, न ही संपादक को इसमें अश्लीलता का 'वायरस' दिखा था पर हमारे मध्यमवर्गीय संस्कारों से कुंठित पाठ्यपुस्तकीय संकलनकर्त्ताओं को गीत 'अश्लील' फलतः गर्हित फलतः निकालनीय लगा था। गुलेरी जी की सभी कहानियों में प्रगल्भ सेक्स के संकेत विद्यमान हैं 'लंहगा पसारने' और 'मुँह बंद करने के उपाय' का उल्लेख गुलेरी जी बड़ी आस्था से करते हैं। गुलेरी जी तो गुलेरी जी मैथिलीशरण गुप्त जैसे वैष्णव कवि भी प्रिया को 'घाते' में लेकर 'एक परिरंभण' की याचना करने में संकोच नहीं करते। मुझे याद है कि जबलपुर विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर हिन्दी पाठ्यक्रम से 'साकेत' हटाने का आग्रह करने वाले बाल विशेषज्ञ पं. रामेश्वर शर्मा और उनके समर्थन में स्थानीय विभागाध्यक्ष के मौन को ऐसा हाहाकारी निर्णय लेने के लिए मुझे 'नोट आफ डिसेंट' की धमकी देनी पड़ी थी। ये दोनों आचार्य प्रवर 'मेघनाथ की शक्ति सहन करके यह छाती, अब भी क्या इन पाद पल्लवों से न जुड़ाती' जैसी पंक्तियों से बड़े उत्तेजित थे और साकेत को अश्लीलता का प्रचार करने वाला काव्य मानते थे। जोधपुर विश्वविद्यालय में नामवर जी ने 'आधा गांव' को निर्धारित करने का दुस्साहस किया था पर न केवल 'आधा गांव' पाठ्यक्रम से निष्कासित कर दिया गया था बल्कि स्वयं नामवर जी को विश्वविद्यालय से निर्वासित होने का दंड भुगतना पड़ा था। पता नहीं, नामवर जी तब यह क्यों नहीं समझ पाये थे कि हमारे देश के ऐकेडेमिक संस्थान जड़ता और गतानुगतिकता के सबसे बड़े दुर्ग हैं।

दलित विमर्श, स्त्री मुक्ति और सामाजिक यांत्रिकी के इस युग में हमें अश्लीलता के प्रश्न पर नये सिरे से विचार करने की ज़रूरत है। अश्लीलता की परिभाषा आज वही नहीं रह गयी है जो आचार्य मम्मट और विश्वनाथ के समय थी। अश्लीलता का कोई भी निकष न सार्वकालिक होता है, न सार्वदेशिक। आखिर इंग्लैंड जैसे नैतिकताग्रही देश को भी द्वितीय महायुद्ध के बाद 'लेडी चैटरलीज लवर' पर लगाया गया प्रतिबंध हटाना पड़ा था। 'उसने कहा था' में घरबारी सिख लुच्चों का जो गीत गाते हैं, 'उससे सारी खंदक गूँज उठी थी और सिपाही फिर ताजे हो गये थे, मानों चार दिन से सोते और मौज ही करते आ रहे हों।' इस गीत को अश्लीलता की कसौटी पर नहीं, मनोविज्ञान की कसौटी पर कसे जाने की आवश्यकता है और हमें 'उसने कहा था' का जो पाठ निर्धारित करना चाहिए, वह नैतिकता और अश्लीलता की रूढ़ियों के आधार पर नहीं, लेखक की नीयत और मनोविज्ञान के आधार पर तय करना चाहिए।

विद्यापुरम्
मकरोनिया कैम्प, सागर (म.प्र.)
दूरभाष - 07582-262354

बुद्ध और अम्बेडकर का समत्व-भाव

–सविता गुप्ता

भारतीय दार्शनिक चिन्तन परम्परा में समता का स्वर किसी न किसी रूप में ऋग्वैदिक काल से अर्वाचीन काल तक पाया जाता है। आध्यात्मिक स्तर पर तत्त्वतः एक स्वर में मानव आत्म में समत्व भाव स्थापित किया गया किन्तु व्यावहारिक स्तर में विभेद का स्वर भी सदा से मुखर रहा, जो आज भी है। इन दो विरोधी प्रवृत्तियों का विकास भारत में होना अस्वाभाविक नहीं माना जा सकता क्योंकि भारत के धर्म, समाज एवं संस्कृति के निर्माण में विविध जाति-प्रजाति, विभिन्न रीति-रिवाज, परम्पराओं, विश्वास, धार्मिक अनुष्ठान, वेशभूषा, भाषाओं आदि का योगदान रहा है। इन विविधताओं के बीच भी एकत्व भारतीय संस्कृति की वैश्विक पहचान है। अतः महत्त्वपूर्ण है, भारत में सारी विविधताओं के बीच समता का स्वर पाया जाना, उस पर गहन विचार-विमर्श एवं सभी का उसके पक्ष में आग्रह बना रहना।

समता का प्रश्न मुख्यतः भारतीय समाज के सन्दर्भ में देखा जाना चाहिए। वह समाज व्यवस्था जिसका प्रमुख आधारस्तम्भ वर्ण-व्यवस्था है, जो वैदिक चिन्तन मेधा की अत्यन्त मौलिक कल्पना है। जिस दृष्टि को लेकर यह व्यवस्था स्थापित की गई थी कालक्रम से वह दृष्टि व्यवस्था के साथ अधिक समय तक नहीं चल पायी। इस सामाजिक व्यवस्था में मानव समाज को उसकी सहज शारीरिक और मानसिक शक्तियों के आधार पर चार वर्णों में विभाजित करने की कल्पना आरम्भिक मनीषियों ने की जिनकी दृष्टि में लोक, समाज, कर्म महत्त्वपूर्ण था। अतः समाज के लिए प्रवृत्त यह व्यवस्था अपने आप में साध्य थी। इसका प्रयोजन किसी वर्ण की उच्चता या निम्नता का प्रतिपादन नहीं था, वरन् शक्तिरूप कर्म का विभाजन एवं सम्पादन था। अतः यहाँ विषमता का कोई औचित्य ही न था। कालान्तर में कर्म आधारित वर्ण-व्यवस्था जन्मगत होने के साथ कठोर होती चली गयी, जिससे समाज में वर्णश्रेष्ठता और कनिष्ठता का भाग जागृत हो गया, तब किसी वर्ण को उच्च और श्रेष्ठ तथा किसी को निम्न और हेय समझा जाने लगा, किसी को वन्द्य और किसी को निन्द्य समझा जाने लगा। तब से भारतीय समाज में विषमता का बीज वपन हुआ। वर्णाधारित सामाजिक दृष्टि अपने मूल रूप से च्युत् हो गई। समाज में मानव-मानव में ही भेद दृष्टि उत्पन्न हो गई। मनुष्य अपनी श्रेष्ठता और साध्य सिद्धि हेतु अन्य मनुष्य का प्रयोग साधन रूप में करके मनुष्य का ही दोहन और शोषण करने लगा।

फलस्वरूप समाज में असन्तुलन, असमानता और भेद बढ़ने लगा। शनैः शनैः समाज में वर्ण श्रेष्ठत्त्व, वर्ण वर्चस्व एवं वर्ण भेद स्थापित हो गया। ब्राह्मण श्रेष्ठ, उच्च और सम्माननीय समझे जाने लगे, साथ ही सारे अधिकार भी उन्हीं के नियन्त्रण में हो गये। सबसे दयनीय स्थिति निम्न वर्ण, शूद्रों की हो गई, जिनसे सारे अधिकार ले लिए गए। उनका धर्म और कर्म मात्र अन्य वर्णों की सेवा करना निर्धारित कर उनकी स्वतंत्रता प्रतिबंधित कर दी गई। उन्हें दासत्व की बेड़ियों में जकड़ दिया गया।

1

बुद्धकालीन समाज व्यवस्था में व्याप्त वर्ण, जातिगत कठोरता और श्रेष्ठता और कनिष्ठता के भाव ने सामाजिक असमानता, असन्तुलन एवं मानव भेद को इतना प्रगाढ़ कर दिया कि तत्कालिक समाज में समता की परिणति एक दुरुह परिकल्पना ही थी। बुद्ध ने अपने आचार-विचार, धर्म एवं संघ द्वारा इस परिकल्पना को साकार रूप प्रदान किया, जिसे आगे डॉ. अम्बेडकर ने सुदृढ़ आधार प्रदान किया।

गौतम बुद्ध समदृष्टा थे। उनका समत्व भाव केवल आध्यात्मिक उपलब्धि ही नहीं था वरन् इसकी व्यावहारिक परिणति भी उनकी सामाजिक दृष्टि, धर्म और संघ के नियमों में देखी जा सकती है। गौतम बुद्ध ने वर्णश्रेष्ठताधारित भारतीय सामाजिक व्यवस्था का पूर्णतः विरोध किया। ''बुद्ध ने आचार और ज्ञान को आदमी की श्रेष्ठता के लिए मुख्य कसौटी रखा। सदाचारी और ज्ञानी पुरुष चाहे किसी भी जाति अथवा किसी भी वर्ण या रंग का हो, उसे वह श्रेष्ठ मानते थे।''[1] वे मानते थे कि जातिभेद से समाज में असमानता का जन्म होता है और यह 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' के मार्ग में बाधक है। इसलिए बुद्ध जातिभेद का निषेध करते हैं। उनकी दृष्टि में ''ब्राह्मण और अब्राह्मण समान थे।''[2]

उन्होंने अपने धर्म एवं संघ में सभी वर्णों, जातियों, पतित-अपराधी, सम्पन्न-निर्धन, स्त्री-पुरुष, साधु-डाकुओं, रानी-चाण्डालिका, रोगी आदि सभी को समान रूप से दीक्षा देकर समता का अतुलनीय उदाहरण प्रस्तुत किया। उन्होंने राजा मगध नरेश बिम्बिसार, कौशल नरेश प्रसेनजित, कपिलवस्तु के अनेक शाक्य कुमार, कपिलवस्तु के नाई उपाधि, राजगृह के सुजीत नामक भंगी, श्रावस्ती के सोपाक और सुप्पिय जैसे अछूत, सुमंगल नामक किसान, कम्पत-कुट नामक भिखारी और राजगृह के वेणुवन में रहने वाले कुष्ठ रोगी, सप्रबुद्ध को समान रूप से धर्म दीक्षा दी। यही नहीं उन्होंने नारियों को संघ में प्रवेश एवं धर्म दीक्षा देकर भारत की सामाजिक व्यवस्था में न केवल ऐतिहासिक परिवर्तन किया वरन् समाज में लिंगीय समानता का जो उदाहरण प्रस्तुत किया वह भारतीय इतिहास में अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होता है। बुद्ध का समत्व भाव केवल लोगों के लिए ही नहीं था, उन्होंने स्वयं को भी लोगों से अलग नहीं माना। उनके द्वारा निर्मित नियम दूसरों के लिए ही नहीं थे, वरन् समान रूप से स्वयं उनके

लिए भी थे। ''तथागत ने जितने भी नियम भिक्खु संघ के लिए बनाये थे, स्वेच्छा से उन सभी को अपने ऊपर भी लागू किया।''[3] ''भिक्खु एक ही बार भोजन ग्रहण कर सकते थे, यह नियम अन्य सभी भिक्खुओं के साथ-साथ तथागत को भी स्वीकृत था।'[4] बुद्ध ने स्वयं को कभी असाधारण और दैवीय मानव भी नहीं माना। ''ईसा मसीह ने खुदा का बेटा, पैगम्बर मोहम्मद साहब ने अल्लाह द्वारा भेजा गया पैगम्बर कहकर अपने-अपने धर्म में विशिष्ट एवं उच्च स्थिति बना ली थी, किन्तु बुद्ध ने ऐसा कोई दावा कभी नहीं किया। उन्होंने अपने आप को शुद्धोधन और महामाया का प्राकृतिक पुत्र होने के अतिरिक्त कभी भी कोई दूसरा दावा नहीं किया।''[5] यह बुद्ध के उत्कृष्ट समत्व भाव का द्योतक है।

बुद्ध की दृष्टि में सभी मानव समान थे। उनमें धर्म, जाति, वर्ण, लिंग, के आधार पर किसी भी प्रकार का भेद नहीं था। वे मानव के मूल्यांकन का आधार उसके शुभ-अशुभ और मंगल-अमंगल कर्म को ही मानते थे। धर्म की व्याख्या में भी बुद्ध की समत्व दृष्टि स्पष्ट दृष्टिगत होती है। उनके अनुसार ''धर्म तभी सद्धर्म हो सकता है, जब वह एक आदमी और दूसरे आदमी के बीच की तमाम दीवारों को गिरा दे। जब वह यह शिक्षा दे कि किसी आदमी का 'जन्म' से नहीं बल्कि उसके कर्म से ही मूल्यांकन किया जाना चाहिए। जब वह आदमी और आदमी के बीच समानता के भाव में अभिवृद्धि करे।''[6]

बुद्ध ने समाज में समता स्थापित करने हेतु कई व्यावहारिक प्रयास भी किए। बौद्ध संघ मे प्रव्रजित होने वाले सभी लोग चाहे वे किसी वर्ण या जाति के हों बौद्ध भिक्खु नाम से जाने जाते है। भारतीय समाज में प्रचलित जातिगत शब्द वर्ण अभिमान, उच्चता और निम्नता के भेद सूचक हैं। उन्होंने ब्राह्मण वर्णसूचक जाति शब्द मनुष्य में उच्चता का अभिमान भरते हैं और शूद्रसूचक जाति शब्द निम्नता, तुच्छता और हेयता की दृष्टि पैदा करते हैं। बौद्ध संघ में प्रव्रजित सभी के लिए ''बौद्ध भिक्खु'' शब्द देकर बुद्ध समाज में समता स्थापित करने का एक व्यावहारिक प्रयास करते हैं। बुद्ध अपने धर्म की तुलना महासमुद्र से करते हुए कहते हैं ''भिक्खुओं! जैसे बड़ी-बड़ी नदियाँ महासमुद्र में आकर गिरती हैं वैसे ही क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र चारों वर्ण के लोग इस धर्म विनय में घर से बेघर होकर प्रव्रजित होते हैं और वे अपने पहले नाम और गोत्र को छोड़कर बौद्ध भिक्खु इस नाम से जाने जाते हैं।''[7] उन्होंने अपने धर्म एवं संघ में सभी वर्णों, जातियों, राजा-महाराजा, श्रेष्ठी-साहूकारों, विद्वानों-सामान्य, सम्पन्न-निर्धन के साथ नाई, भंगी, अस्पृश्यों एवं निम्न जाति के लोगों, डाकू, अपराधियों आदि को समान भाव से धर्म दीक्षा दी। उन्होंने नारी जाति को निर्वाण के योग्य माना, उन्हें दीक्षा दी एवं संघ के द्वार उनके लिए खोलकर भारतीय समाज में चले आ रहे लिंगभेद को समाप्त करने की नींव रखी।

बुद्ध अपने प्रयासों से समाज में समता स्थापित करने का प्रयास जीवन पर्यन्त करते रहे। बौद्ध धर्म के पराभव के पश्चात् भारतीय समाज व्यवस्था पुनः अपने कठोरतम रूप को ग्रहण करती चली गई। फलतः समाज में वर्णगत श्रेष्ठता एवं जातिगत ऊँच-नीच का भाव और दृढ़ हो गया। समाज में निम्न वर्ण विशेषतः शूद्रों, अस्पृश्यों की स्थिति के साथ नारियों की स्थिति भी अत्यन्त निम्नतर, दयनीय और सोचनीय होती चली गयी। उनके साथ न केवल पशुवत् और अमानवीय व्यवहार किया जाता था वरन् उन्हें उनके अधिकारों से भी वंचित कर दिया गया। 19वीं सदी भारतीय पुनर्जागरण का काल था, जिसमें भारत की वैषम्यपूर्ण सामाजिक स्थिति को बदलने के साथ निम्न वर्ग एवं नारियों को सम्मानजनक स्थिति प्रदान करने हेतु राजाराम मोहन राय, दयानन्द सरस्वती, विनोबा भावे, ज्योतिबा फुले, विवेकानन्द, गाँधी, केशवचन्द्र, डॉ. भीमराव अम्बेडकर आदि द्वारा उल्लेखनीय सुधार-कार्य किये गये। सामाजिक समता एवं निम्न वर्गों और विशेषतः नारी स्थिति को सुधारने हेतु डॉ. अम्बेडकर द्वारा दिया गया योगदान अविस्मरणीय है।

बुद्ध ने भारतीय वर्ण-व्यवस्था पर आघात कर सामाजिक समता लाने का जो प्रयास किया, उसे डॉ. अम्बेडकर ने आगे बढ़ाया। उन्होंने सामाजिक समता हेतु जनजागृति लाने अनेक आन्दोलन, सभाओं के साथ कई उल्लेखनीय कार्य किये, जिसमें मुख्य हैं— 21 जनवरी 1920 में भारतवासी दलित वर्णों के हितैषी मूक नामक साप्ताहिक पत्र (मराठी) का प्रारम्भ किया। 20 जुलाई 1924 में दलित वर्णों के उत्थान के लिए बहिष्कृत हितकारिणी सभा की स्थापना की। 20 मार्च 1927 में चावदार तालाब में पानी लेने में अछूतों के अधिकार हेतु महाड़ (रत्नागिरि जिला) पर सत्याग्रह। 03 अप्रैल 1927 में 'बहिष्कृत भारत' नामक एक पाक्षिक-पत्र निकालना प्रारम्भ किया। मार्च 1930 में अछूतों के मन्दिर प्रवेश अधिकार की प्राप्ति के लिए कालाराम मन्दिर, नासिक पर सत्याग्रह। डॉ. अम्बेडकर के प्रयासों से समाज में निम्न वर्ण और अस्पृश्यों में चेतना आई तथा असमानता एवं उसका विरोध करने की समझ उनमें आई। नारी स्थिति को सुधारने एवं उन्हें अधिकार दिलाने के लिए अनेक कार्य किये। जिनमें से मुख्य है— 'हिन्दू कोड बिल' जिसका प्रारूप बनाने एवं पारित कराने में अम्बेडकर द्वारा किया गया प्रयास महत्त्वपूर्ण है। अम्बेडकर की मान्यता थी कि समानता का अर्थ है, सभी को समान अवसर प्राप्त हो और सभी की प्रतिभा को समुचित प्रोत्साहन दिया जाए। उन्होंने हिन्दू समाज के गठन के लिए समानता और जातिविहीनता को आवश्यक माना।

डॉ. अम्बेडकर ने मानव समता को मानव गरिमा के साथ जोड़ दिया। डॉ. अम्बेडकर ने ही सर्वप्रथम मानव गरिमा की वकालत की। उनका मानना था कि मानव के लिए उसकी गरिमा ही उसका अस्तित्व बचा सकती है। गरिमा विहीन मनुष्य का व्यक्तिगत एवं सामाजिक विकास अवरुद्ध हो जाता है। मानव गरिमा को भारतीय समाज के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो सर्वाधिक हनन निम्न वर्ग, शूद्र, अस्पृश्य और नारी की ही गरिमा का हुआ। इनके साथ न केवल असमानता का व्यवहार किया गया, वरन् इन्हें मूलभूत अधिकारों से वंचित कर इनकी उन्नति के मार्ग अवरुद्ध कर दिये गये। इन पर अनेक बन्धन लगाकर इनकी स्वतन्त्रता प्रतिबन्धित कर

दी थी। इन्हें शिक्षा, स्वतन्त्रता, सम्पत्ति, समता का कोई अधिकार नहीं था। इनका जीवन मात्र दासत्व, सेवा और कर्त्तव्यपालन तक ही सीमित था। डॉ. अम्बेडकर ने निम्न वर्ण और नारी जाति की दयनीय एवं सोचनीय स्थिति को सुधारने के लिये न केवल प्रयास किये वरन् उनकी गरिमा और सम्मान को बनाये रखने के लिए उन्हें कानूनन अनेक अधिकार प्रदान कराये।

3

बुद्ध और अम्बेडकर दोनों ही समूची जाति के प्रति समत्व भाव रखते थे, किन्तु बुद्ध के समत्व भाव के मूल में आध्यात्मिकता थी तो अम्बेडकर का समत्व भाव भारतीय वर्णाधारित समाज व्यवस्था की देन था। बुद्ध ने सम्पूर्ण संसार को दुःखमय माना। उनका प्रयास सभी मनुष्यों की दुःख से अविद्या से मुक्ति था। भवचक्र के रूप में दुःख के कारणों की शृंखला में वे अविद्या को समस्त दुःख का मूल कारण मानते थे, जो सभी मनुष्यों में समान रूप से विद्यमान थी। जिससे प्रत्येक मनुष्य अपने प्रयासों से ही मुक्त हो सकता था। उनके बताए मार्ग पर चलकर कोई भी मनुष्य चाहे वह किसी भी वर्ण, जाति, लिंग का हो मुक्त हो सकता था। बुद्ध के आध्यात्मिक समत्व भाव की परिणति व्यावहारिक धरातल में भी स्पष्ट देखी जा सकती है। उन्होंने व्यवहार में मानव-मानव में कोई भेद नहीं किया था। समाज के सभी वर्णों को संघ में प्रवेश दिया और सभी के लिए समान नियम बनाए। यही नहीं, उन नियमों को बुद्ध स्वयं पर लागू करके अपने को भी अन्य साधारण मनुष्यों के समान ही माना।

बुद्ध का यह समत्व भाव अनुकरणीय है। डॉ. अम्बेडकर दुःख के आध्यात्मिक नहीं वरन् व्यावहारिक कारण को खोजकर हमारे समक्ष रखते हैं। वे मानव के दुःख का कारण इसी संसार में मानव निर्मित समाज व्यवस्था में ढूँढते हैं, वह समाज व्यवस्था जो असमानता पर आधारित है, जिसमें मानव-मानव में भेद कर दिया था। अम्बेडकर इस असमानता पर आधारित भारतीय समाज व्यवस्था को ध्वस्त कर समाज में समता स्थापित कर मनुष्य का दुःख दूर करना चाहते थे। अम्बेडकर का समत्व भाव ऐसी समाज व्यवस्था के लिए था, जिसमें सभी मानव समान हों। सभी के लिए विकास के समान अवसर हों, उनकी प्रगति वर्ण, जाति और लिंग के आधार पर बाधित न हो। डॉ. अम्बेडकर सारा जीवन यही प्रयास करते रहे। वर्तमान समय में भारत में निम्न वर्ग और नारी समाज की जो सम्मान पूर्ण स्थिति एवं गरिमामय जीवन है, उसका श्रेय बुद्ध और अम्बेडकर को ही है।

प्रोफेसर
दर्शन विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

सन्दर्भ :

1. महामानव बुद्ध, राहुल सांकृत्यायन, पृ. 94.
2. भगवान् बुद्ध, धर्मानन्द कोसम्बी, अनुवादक—जोशी श्रीपाद, पृ. 213
3. भगवान् बुद्ध और उनका धर्म, बी.आर. अम्बेडकर, अनुवादक—भदंत आनन्द कौसल्यायन, पृ. 167.
4. वही, पृ. 456.
5. भगवान बुद्ध, धर्मानन्द कौसम्बी, अनुवाद— जोशी श्रीपाद, पृ. 167.
6. भगवान बुद्ध और उनका धर्म, बी.आर. अम्बेडकर, पृ. 237, अनुवादक—भदन्त आनन्द कौसल्यायन।
7. डदान, 5/5.

कौस्तुभ स्तम्भ

–उषाकिरण खान

''माँ ऽ ऽ ऽ ऽ, ओ माँ ऽ ऽ ऽ ऽ, तुम ठीक तो हो ना ऽ ऽ कैसी हो....ऽ? आवाज दो ऽ ऽ ऽ ओ।''

चीख-चीखकर बेटा पुकार रहा है तटबन्ध से। पानी में आवाज दूर तक गूँजती है। साँझ गहराने के साथ ही तटबन्ध की ओर से जनसमूह के बाकी कलमल स्वर बन्द हो गये हैं। यही एक तीखी उतावली आवाज आ रही है बार-बार। उत्तर न पाने पर विवश चीख जैसी।

"मुझसे चिल्लाना न हो सकेगा मंगल-बहू। तू आवाज दे दे।" देवी माँ ने छप्पर की मुंडेर पर बैठी अपनी साथिन से कहा।

"बउआ ऽ ऽ ऽ ऽ, हम ठीक हैं–ऊ ऽ ऽ ऽ ऽ" देर तक पुकारकर जोर से कहने की चेष्टा की मंगल-बहू ने। गले पर जोर पड़ने के कारण खाँसी आ गयी, खाँसी थमते ही हँसने लगी मंगल-बहू।

"अब तुम्हारी यह बेवक्त की हँसी शुरू हो गयी।" देवी माँ ने उसे बरजते हुए कहा।

"देवी माँ, अब बउआ चुप हो गया, हमारी आवाज पहुँच गयी है।" खिलखिलाती हुई बोल रही थी, मंगल-बहू।

"ओफ्फोह, हँसी बन्द करो, तुम्हारी यह हँसी की आवाज भी फिसलती हुई किनारे की तरफ जाती होगी" परन्तु मंगल-बहू की खिलखिलाहट और तेज होती जाती।

अब मैं इसे कुछ न कहूँगी। जितना रोकोगी उतना ही हँसेगी पगली, लोट-लोट कर कहीं पानी में न गिर जाये। पगली तो है ही। तटबन्ध पर सब खुले आकाश के नीचे कैसे होंगे। एक ही तो खाट जा पायी थी, कुछ चटाइयाँ थीं। रह-रह कर किसी बच्चे के रोने की आवाज सुन पड़ती थी। आकाश काली अँधेरी चादर की भाँति तना है सिर के ऊपर। प्रकृति की कृपा है। असीम जल के इस विराट विस्तार में कभी कुछ गिरने की आवाज आती है तो कभी किसी पक्षी के फड़फड़ाने की। देवी माँ चारों ओर दृष्टि घुमाती हैं। कहीं कुछ नहीं है। पानी पर आँखें स्थिर करती हैं। सारी झोपड़ियाँ बह गयी-सी लगती हैं, क्योंकि पानी एक विशाल स्लेट-सा दिखता है, सीधा-सतर। मंगल-बहू की हँसी थम गयी थी। कुछ गिरने की जोरदार आवाज हुई। धस्स।

"देवी माँ, ये क्या गिरा? पानी में तेजी बहुत है, कहीं कोई पेड़ तो नहीं गिरा–?"

"नहीं, जान पड़ता है, सखीचन का दालान गिरा है। मिट्टी के पानी में गिरने की आवाज थी और वह भी दक्षिण से। उस ओर तो उसी का दालान था।"

"हाँ उस ओर उसी का दालान था। कितना पुराना दालान था। कितनी बरसात खा गया, कितना बाढ़ का पानी सहा। आज वह भी गिर गया।" मंगल बहू ने साँस ली। गाँव का सबसे बड़ा और ऊँचा दालान था। एक हाथ धरती के नीचे से पक्के ईंट की कुर्सी फिर मटियार की भीत।

दीवारों के बीच एक छोटी-सी कोठरी थी पहले। बाद में उस कोठरी को तोड़कर मचान बना दिया गया। अपनी झोपड़ी से पहले मंगल-बहू इसी दालान में उतरी थी। पाचास-साठ साल पहले की बात होगी, मंगल अपनी बहू का गौना कराकर लाया था। उस वर्ष खेत खूब उपजा था। घर-घर कोठिले और बखारियाँ (मिट्टी तथा बाँस के अनाज रखने के पात्र) बन रही थीं नयी-नयी। पूजा और कीर्तन का जोर था गाँव में। मंगल कुम्हार के घर अनायास बर्तनों की बिक्री बढ़ गयी थी। मंगल की माँ दिवंगत हो गयी थी। ले-देकर एक बाप और एक मंगल। बाप ने बहू के गौने का दिन भेजा था। मंगल-बहू को लिवा-कर बैसाख के पूनो के दिन ला रहा था। मंगल-बहू के पके चेहरे पर अब भी पूनो का प्रकाश छा जाता है यदा-कदा। गाँव के पंडित जी ने गौने का समय दिन उगते ही रखा, सो मंगल अपनी बहू को सुबह-सुबह लिवा के चला था। आगे-आगे पीली धोती, लाल गमछा और बड़ी-सी पोटली लिये मंगल कुम्हार उसके पीछे लाल साड़ी में लिपटी साँवली सलोनी बहू। बहू ने लम्बा घूँघट किया था। उसके पैरों का कड़ा-छड़ा चलते समय रुन-झुन की आवाज करता था। थोड़ी ही दूर चलने के बाद शायद धूप और नये वस्त्र के घूँघट ने मंगल-बहू को थका दिया था। साथ चलते भरिया ने आवाज दी थी। "मेहमान, जरा इस पीपल की छाँव में बइठ जाइये, बहिनी थक गयी हैं।" और सब बैठ गये थे। मंगल पूरब की ओर मुँह कर के बैठा था तो बहू पश्चिम की ओर। अभी भी मंगल-बहू को स्मरण है। मंगल अपनी कमर टटोलने लगा था। साथी भरिया ने देखा और पूछा था–"तलब लगी है मेहमान, बीड़ी-अड़ी की खैनी-चूना?"

"बीड़ी लगता है कहीं गिर गयी बगुली।" शर्माता-सा सफाई दे रहा था मंगल।

"बहिनी, तुम्हारे पास है बीड़ी?" भरिया ने पूछा था। बेहद लजा गयी थी मंगल-बहू–"हाय-हाय कैसा मूरख है, 'आदमी' के सामने बीड़ी के लिए पूछता है।'' पर अनायास अपने नये सिले ब्लाउज की बगली जेब में हाथ चला गया। वही छींटदार झुल्ला बाबू सुपौल बाजार के दर्जी से सिलवाकर लाये थे। जमना कुम्हार की बेटी थी कोई मामूली नहीं थी। जमना कुम्हार पंडित कहलाते थे। बरतनों में एक-से-एक फूल-पत्तियाँ, किस्से-कहानियाँ गढ़ते थे। उनके भित्ति-शिल्प प्रसिद्ध थे। अपना घर फूल-पत्तियों से भरा हुआ था, बरतन का बड़ा करोबार था। मिट्टी से

रुपया बनाना कोई उनसे सीखे। सो गाँव में पहले-पहल कोई हिन्नू लड़की दर्जी का सिला झुल्ला पहनकर ससुराल चली थी। झुल्ला की बगली से बीड़ी का बंडल और दियासलाई निकालकर मंगल बहू ने हाथ बढ़ाया था। लाख की सुनहरी नारंगी चूड़ियाँ और कंगन मीठी टकराहट से कुनकना उठीं। तभी मंगल ने पलटकर देखा साँवला गदबदा हाथ आगे बढ़ा। वह कैसे सीधे-सीधे उस हाथ से ले ले बीड़ी। अभी भी वैसे ही याद है मंगल-बहू को। उसने थकमकाकर बीड़ी और दियासलाई जमीन पर रख दिया था। क्षणांश में जो देखा था मंगल का वह रूप अब भी याद है। कभी भूली कहाँ थी। गोरा सुन्दर मंगल तेज धूप के कारण लाल भभूका लगता था, घनी काली मूँछें और घुँघराले बाल थे। सहेलियाँ सच ही कहती थीं—“क्या आग-सा चमकता तेरा दूल्हा है। तेरे साथ खूब जमेगा, कोयले में आग जैसा।” एक पुलक, एक सिहरन व्याप गयी शरीर में। उठते-बैठते, बैठते-उठते, धीमे-धीमे डग भरते जब मंगल अपने गाँव के सिमान पर पहुँचा तो दिन ढलने में एक पहर बाकी था। पहली बार बहू दिन रहते घर में पैर नहीं रखती, दिया—बाती हो जाने के बाद लक्ष्मी का अह्वान होता है। सिमान के पाकड़ का पेड़ ही पहल गेह थी मंगल-बहू की। इस विशाल वृक्ष की छाँव में बढ़ोत्तरी ही हुई है, कमी नहीं हुई। दक्षिण की ओर गरदन मोड़कर देखा मंगल-बहू ने। आँखों की ज्योति कम हो गयी है।

“देवी माँ, पाकड़ का पेड़ ठीक है न! देखिये तो।” देवी माँ दक्षिण की ओर मुँह करके पहले से बैठी थी। उन्होंने कहा—“हाँ, ठीक है सत्तासी की बाढ़ में जो नहीं गिरा तो अब क्या गिरेगा?”

“सत्तासी से कम जोर का तो नहीं है यह बाढ़।” वह बुदबुदाई। ‘‘हूँ, टक्कर बराबर की है।’’ बड़े सहज भाव से बातें हो रही थीं मानो बाढ़ की विभीषिका को ये सद्यः झेल नहीं रही हों। कहीं दूर से देख रही हों।

“अपने यहाँ कहिबी (मुहावरा) है न ‘पन्थक पाकड़ि’, सो अपने इस गाँव में सत्त है।”

“हूँ”—देवी माँ फिर हुंकारी भरी। चिलचिलाती धूप में जलता हुआ वन-प्रान्तर। छाँव के लिए लालायित लोग आकर इस घने पाकड़ वृक्ष के नीचे आराम से दुपहरी काट लेते हैं। छोटे-मोटे व्यापारी सुखाड़ के समय अपने घोड़ों, बैलगाड़ियों सहित इसी पाकड़ के तले रात गुजार लेते हैं। आँधी-तूफान, बरसात में यह वृक्ष शरणस्थली रहा है और अब बाढ़ में सैकड़ों जीव-जन्तुओं का बसेरा रहता है। सौ साल से ऊपर का तो अवश्य है वह वृक्ष। इसकी उम्र का कोई बुजुर्ग जीवित नहीं है इलाके में। फिर एक जोरदार छपाक् का स्वर सुनाई पड़ा।

“लगता है दालान का धरण गिर गया”, फुसफुसाती-सी बोली मंगल-बहू।

उस दिन पाकड़ के नीचे गाँव-भर के बच्चे जमा हो गये थे। फिर किशोरियाँ, तब

युवतियाँ और बुढ़ियाँ भी आ जुटी थीं। मंगल-बहू लाल कपड़े की गठरी बन गयी थी। नख-शिख ढँक लिया था। सुकनी मलाहिन गाँव की बुजुर्ग बेटी थी। उसकी बात कोई नहीं काटता था। उसने बच्चों, किशोरों और बुजुर्गों की भीड़ को धमकाया कि बहू का पीछा छोड़ें, पर भीड़ थी कि गुड़ पर लगे चींटे की तरह चिपकी जा रही थी। तब सुकनी ने कहा था, "कब तक गठरी बनकर बैठी रहेगी बहुरिया यहाँ, साँझ ढलने में देर है। इसे सब लेकर सखीचन के दालान में चलो।"— आगे-आगे सुकनी पीछे-पीछे बहुरिया मंगला-बहू और चारों ओर से गाँव के बच्चे। दालान की कोठरी में बहुरिया को बैठाकर सुकनी पीछे मुड़ी थी तो मंगला कोने में खड़ा था। "अब मैं उधर जाऊँ?"—मंगला ने बाहर की ओर इशारा किया।

"कहीं नहीं जायेगा तू, बहुरिया के साथ पहले घर में घुसेगा तब कहीं बौरायेगा। ऐ भरिया तुम भी यहीं बइठो। मंगला इहैं रह। अरे बच्चा-कच्चा सब भाक्-भाक्।"

भीड़ भगाने की निरर्थक चेष्टा की थी सुकनी मलाहिन ने।

"अरे बाबू रे, हम तो भूल ही गये कि मंगला के बाबू ने विधि-ब्यौहार का सामान जुटाने को बुलाया था। रे मंगला, बहुरिया के पास कोई न जाये, देखना।" सुकनी निर्देश देकर चली गयी। निमुन्न लाल गठरी में अधिक देर बच्चों को बाँध रखने की कोई बात नहीं थी, धीरे-धीरे भीड़ अगल-बगल ससर गयी। मंगल हौले से कोठरी में गया था।

"सुनती हो, एतना घोंघट का बन्द घर में जरूरत नहीं है। जरा देह में हवा लगने दो। हमारे घर में बाबू और हम हैं बस। बाकी नौकर-चाकर मट्टी लानेवाला, कूटने-गूँधने वाला। चाक पर तो हम और बाबू बैठते हैं। सारा घर तुम्हें सँभालना है। अब तक तो जैसे-तैसे भात बनाकर हम लोग खा लेते थे। तुम आ गयी हो तो सुभीता होगा।" एक-एक शब्द मंगल-बहू मानो पी रही थी। ममता से भर आया था मन। उसी दिन से सोलह वर्ष की कुमारी कन्या माँ की भूमिका में आ गयी थी। माँ की तरह देखभाल की थी, ससुर की और एक हद तक पति मंगल की भी।

सखीचन का वह ऊँचा धरणवाला दालान बार-बार मरम्मत होता रहा था। कोठरी टूटकर मचान बनी। मचान हटाकर चौकियाँ रखी गयीं। लीपते-रँगते दालान का रूप कई बार बदला, पर भित्ति वैसे का वैसा रहा। धरण ने लम्बे-चौड़े चार खंडों वाले छप्पर को अब तक धारण किये रखा। कई-कई बार तरह-तरह के खर-कास से छवाया गया। छप्पर अब लगभग पन्द्रह वर्षों से खपड़ा से छवाया गया था। सत्तासी की बाढ़ में एक-एक कर यों ही खपड़े पानी में गिरते रहे तब फिर किसी तरह सखीचन पासवान के पोतों ने आधे बचे खपड़े आधे खर-पुआल से छवा दिया दालान को।

नीचे से जर्जर हो गयी थी दीवार, आज सम्पूर्ण चौपट। पूरा दालान गिर गया जान पड़ता है।

"देवी माँ, ई लगता है धरण गिर गया।"

"ऐसा ही हुआ है।"

"बहाव तो बहुत तेज है—कहाँ-से-कहाँ बहाकर ले जायेगा। जिसको मिलेगा यह धरण उसका तो भाग खुल जायेगा। असली सारिल चिट्ट (एक प्रकार की लकड़ी) का है। लोहा से भी बरियार।"

"सो तो है। वह दालान दक्षिण की ओर था। धारा उत्तर से दक्षिण की ओर बह रही है। कहीं हमारा घर दक्षिण में होता तो उस विशाल धरण की चपेट में अपना यह छप्पर आ जाता।"

"तब क्या होता देवी माँ।" धीमा डरा-सा स्वर था मंगल बहू का मानो किसी ने सुन लिया तो धारा पलट जायेगी।

"माँ ऽ ऽ ऽ ऽ ठीक हो न! आवाज दो। माँ ऽ ऽ...!"—जिज्ञासा की चीख फिर गूँजी।

"हाँ बउआ ऽ ऽ ऽ हम ठीक है—ऊ ऊ ऽ ऽ।"—चिल्लाई मंगल-बहू, सब शान्त हो गया।

"बउआ रात-भर जागता रहेगा देवी माँ, आपकी जिद भी अपार है। निसाभाग रात में उसको भी कैसे निन्न होगा। इहाँ रहके ठीक नहीं किया।"—झुँझला उठी मंगल-बहू।

"जागना ही चाहिए, प्रत्येक रात सोता ही तो है। विकाल समय है, जागना उचित है।" हौले से हँसी में देवी माँ।

"सन्त वचन है, मगर आपका यहाँ रहना नहीं सुहाता है।"

"आखिर नाव छूटते-छूटते घना अँधेरा छा गया था, तुमने भी तो देखा था। फिर मैं कैसे एक बार और आने को कहती। उन लोगों की जान खतरे में डालती? जो बात नहीं समझती उसमें टाँग भी मत अड़ाओ।" देवी माँ ने झिड़की सुनायी। चार मजबूत खम्भों और बाँस के झाँझन वाले इस घर की छप्पर पर बैठी ये दो जाँबाज वृद्धाएँ फिर चुप होकर जल-प्वालन का हहराता शोर सुनने लगीं।

मंगल-बहू रात होने पर अपने घर आयी थी। मुहल्ले-गाँव की बहनों ने दुअरि-छेंकाई की रस्म की थी। बुजुर्ग महिलाओं ने बाकी विधि-व्यवौहार निपटाये थे। घर में माँ-बहन की कमी को किसी ने अनुभव न होने दिया था। सुकनी मलाहिन ने बहू के यहाँ से आये सन्देश ठेकुआ-पूरी महिलाओं बच्चों में बाँटे। सौगात लेकर जब सब चली गयीं तब मंगल घर में आया था। बड़े से भित्ति घर में एक कोने पर बर्तनों का अम्बार लगा था। परिचित सौंधी महक से घर गुलजार था। सुन्दर नक्काशीदार लाबन (दिया रखने का स्टैंड) पर बड़ी-सी मिट्टी की ढिबरी जल रही थी। सब कुछ प्रकाशित था। मंगल ने आते ही मनुहार से कहा—"इसने कुछ खाया नहीं, दिन-भर से भूखी है। कुछ खा लेती तो अच्छा रहता।" बहू लाज से सिमट

गयी थी। तब मंगल पास आया था—"घूँघट हटा, कौन है दूसरा-तीसरा इहाँ? मंगल ने घूँघट खींच दिया था। बहू खिलखिलाकर हँस पड़ी थी। उसकी वही हँसी अब तक बरकरार है। मंगल को अपनी खाती-पीती गदराई बहू खूब अच्छी लगी थी। घने घुँघराले बाल कसकर जूड़े की शक्ल में बँधे थे, ऊन के फूँदने और कौड़ियोंवाले नाड़े से। खींचकर बाँधा गया बाल दुखता है इसे खोल दें?" बहू ने पूछा था।

"मैं क्या जानूँ? दुखता है तो खोल दे।" मंगल ने सहमति जतायी। दूसरे दिन गाँव की स्त्रियों ने बहू को घूँघट के अन्दर बाल फैलाये देखा तो मुँह छिपाकर हँसने लगी थीं। बहू काम में ऐसी जुट गयी कि मायके की कभी याद ही नहीं आयी। एक-एक कर आठ बच्चे हुए। तभी गाँव में कोसी की विनाश लीला शुरू हो गयी थी। मलेरिया जड़ जमाकर बैठ गया। ससुर के मलेरिया से मरने के बाद घर में मानो यम का प्रवेश हो गया था। मंगल और तीन बेटे दिवंगत हो गये। दो बेटियाँ भी उसी राह चली गयीं। इलाके के सबसे बड़े कलाकार कुम्हार जमना पंडित की बेटी, सम्पन्न लोगों में गिने जाने वाले नेवा पंडित की पुत्रवधू मंगल-बहू निराश्रित हो गयी। भात-रोटी पकाने के अतिरिक्त कुछ सीखा ही नहीं था उसने। जरूरत ही नहीं पड़ी थी। कच्ची-मिट्टी के बर्तनों में गासिब की चित्रकारी मात्र जानती थी, जो आग में डालने के पहले किया जाता। किन्तु बिना बर्तन गढ़े चित्रकारी कैसी? आँगन के कोने में दूर-दूर से लायी गयी मटियार, गासिब चिकनी मिट्टी पिंड की पिंड पड़ी रहीं सूखती हुई, छाजना के अन्दर की चाक (बरतन गढ़नेवाला) थम गयी। घर के कोनों में चुपचाप बैठे रहते तीनों बच्चे सोना, रूपा और अनधन। सोना थोड़ी बड़ी थी। रूपा और अनधन को खिला-पिला देती। माँ की सार-सँभार भी कर देती। मलेरिया से काँखते गाँव में लोग बचे ही कहाँ थे? कुछ मर-मरा गये, कुछ परदेस चले गये। पूरे पाँच सौ आबादीवाले गाँव में कुल पच्चीस आदमी रह गये थे। कुत्ते और सियार साथ-साथ भूँकने लगे थे। हवा की साँय-साँय और टिटहरी की चीत्कार के अलावा इन्सान का क्रन्दन मात्र रह गया था। पालने वालों के अभाव में ढोर-डंगार भी नहीं रहे।

"काँव-काँव-काँव"—कौए के बोलने की आवाज आयी।

"देवी माँ, यह तो कौआ बोल रहा है, कहाँ बैठा है" मंगल बहू ने चौंक कर पूछा।

"इस छप्पर के अलावा पाकड़ का पेड़ है, जो पानी से ऊपर है। उस पर भी हमारी तरह सैकड़ों जीव-जन्तुओं ने पनाह लिया होगा।"

"ठीक कहती हैं, पंछी सब उसी पर होगा।"

"तीन प्रहर रात बीत गयी लगती है।"

"जय कोसिका माई। बाल-बच्चों की रच्छ्या करना। मैया सब तोहरे भरोसे हैं।" उत्तर की ओर गरदन मोड़कर देखती है मंगल-बहू! उसका घर और बाकी सभी बैकालियों, मल्लाहों

और कुंजड़ों का घर पानी के अन्दर है। इस छप्पर के चारों ओर बस पानी-ही-पानी है। कहीं-कहीं कुछ पौधा-सा दिखता है। सम्भवतः वह ऊँचे ढूह पर यत्न से लगाया गया श्याम-तुलसी-वन है। तुलसी की फुनगी जल के ऊपर है। मंगल-बहू के लिए यह नया नहीं है। इस इलाके में तो ऐसा होता रहता है। दसई (दशहरा) का ढोल सुनते ही पानी भाग जाता है। नये सिरे से शुरू होता है, यह बाँस का काम। दीवाली आते-आते घर का छाजन-छप्पर भी तैयार और आंगन मुँडेर भी लेप-पोत कर सुचिक्कन। दीवाली और गौ-पूजा के बाद खलिहान की तैयारी शुरू होती है। कोसी के आते-जाते जलवाले इलाके में मोटे धान की फसल अच्छी होती है।

"देवी माँ, छप्पर की बल्ली-बाँस कस के पकड़े रहियेगा, छाजनवाला खढ़ न कहीं पकड़ाये, खिसक जायेगा तो क्या होगा?"

"हूँ, तुमने क्या पकड़ रखा है वह ध्यान दो, मैं ठीक हूँ।"

"अरे बाप रे हम तो बाती पकड़कर बैठे हैं। जरा भी हिल-डोल नहीं रहे है। चारो तरफ बेंग-साँप, मूस-छुछुन्दर बैठा है।"

"तुम उसके डर से सिमट सकती हो। वह तो नहीं डरता।"

"अरे बाप रे, याद है उस बार कितना चींटा आपके पैर पर चढ़कर बैठ गया था। रात-भर काटता रहा था। अभी भी घाव का दाग है। न : आप अस्सब (असम्भव) जीव हैं। इस बार भी कुछ काट रहा होगा। आपको यहाँ रुकना नहीं चाहिए था।"

"अब ज्यादा लेक्चर न झाड़ो। चुपचाप बैठी रहो। सुबह होने में देर नहीं है।"

"ऐसे ही आप बोलती हैं, हम चुप नहीं रहेंगे..." देर तक बड़बड़ाती रही थी मंगल-बहू। फिर सोचने लगी थी। दस-बीस लोगों के टोले पर एक दिन रोशनी दिखाई पड़ी थी। जब सफेद कपड़ों में सजा एक व्यक्ति देवदूत-सा आकर खड़ा हो गया था। साग-पात पर गुजारा करते, मलेरिया के जूड़ीताप से जूझते मृत्योन्मुख प्राणियों के मन में आशा की किरणें फूटीं। खैरात का अनाज खाने के लिए, दवाइयाँ रोगमुक्त होने के लिए, शुद्ध जल पीने के लिए चापाकल उन्होंने मुहैया करायीं। सामान्य शिक्षण के लिए स्कूल खोलने का संकल्प उन्होंने किया। अपनी सहधर्मिणी देवी माँ को लाकर उन्होंने यहीं घर बसा लिया।

आज कोई गाँव में नहीं रहता। छबीला, लछना, रामकिसुन पढ़-लिख गया तो बाहर नौकरी करने चला गया। बिहारी, सेवक और सनीचर जैसे पचासों मर्द मजूरी के बहाने सालों-साल गाँव नहीं लौटते। कई घरों की औरतें भी आखों में सुरमा डालकर शहर की ओर चली गयीं। इधर ये देवी माँ शहर से आकर गाँव में रह गयीं। अभी भी इनके बच्चे शहर में हैं। इनका एक घर शहर में है। सत्तासी की दुर्दांत बाढ़ में इसी तरह सारे गाँव की औरतें-बच्चों को नाव से पार कर तटबन्ध तक पहुँचा आयी थीं। खुद इसी प्रकार इसी छप्पर में बैठी रह गयी थीं। पूरे पैरों पर चीटियाँ चढ़ गयी थीं। देवी माँ ने उफ तक न किया। अलबत्ता सुबह होने

पर तटबन्ध तक पहुँचते-पहुँचते बेहोश हो गयी थीं। जब होश में आयीं तब विधायक जी हाथ जोड़े खड़े थे।

"देवी माँ, आप हम लोगों को कितने बड़े अपयश में डाल देतीं। अव्वल तो इस बरसात में आपको यहाँ रहना ही नहीं चाहिए था, रह गयीं तो सबसे पहले सुरक्षित स्थान पर जाना चाहिए था। आप सुकुमार ठहरीं। इनका क्या, इन्हें तो बाढ़ की आदत है।"

"आदतें तो बदलती रहती हैं बेटे। देखो तुम्हारी बाढ़ की आदत थी बदल गयी। तुम चौमासा राजधानी के पक्के मकान में गुजारते हो। मैं इनके साथ हूँ। तुम्हें मेरे लिए सचमुच जरा भी दर्द है तो बरसात के पहले नाव का इन्तजाम क्यों नहीं कर देते! मैं तुम्हारी तरह खुदगर्ज नहीं हूँ कि सुख के समय इस माटी में रहूँ और दुःख पड़ने की आशंका से भी भाग खड़ी होऊँ।"

"आप ठीक कहती हैं। पर अब आपकी उम्र कम नहीं रही," विधायक जी ने उत्तर दिया था।

"तुम्हारे पुरखे बुढ़ापे में राजधानी चले गये थे? वहाँ क्या यमराज नहीं आते?"

"आपसे अधिक बोलना नहीं चाहता, पर मैं सचमुच आपके लिए कुछ करना चाहता हूँ।"

"मेरे लिए क्या और क्यों करोगे? अपनी इस पीड़ित जनता का ख्याल करो जिसकी सेवा का संकल्प लेकर तुम कुर्सी पर बैठे हो। जाओ कुछ करो उनके लिए जो सचमुच तुम्हारी मदद चाहते हैं।"

दुम दबाकर लौटे। विधायक जी ने पहले तो इलाके के लोगों को डपटा कि क्यों देवी माँ को पानी के अन्दर रहने दिया फिर मदद का आश्वासन देकर चले गये। कुछ दवायें और तैयार भोज्य-सामग्री बाँटी भी। फिर जब-जब इधर रुख किया दूर से ही रौब गाँठकर चले गये। देवी माँ से मिलने की चेष्टा नहीं की।

गाँव के लोगों ने अपने-आपको ठीक से पहचानना शुरू ही तो किया था कि बीच में ही रहबर चला गया। फिर से सब निराशा के अन्धकार में डूब गये। सोना, रूपा और अनधन पंडित की माँ मंगल-बहू जो अब तक मजबूती से अपने पैर पर खड़ी हो गयी थी भीतर तक हिल गयी। देवी माँ ने उसे जीना सिखाया था।

"तुम्हारे पाँच बच्चे और पति नहीं रहे उसका तुम सोग मनाती हो, सोना, रूपा और अनधन सामने खड़ा है उसे पालने-पोसने की जिम्मेदारी नहीं समझती? जो चला गया उसकी चिन्ता में जो सामने है उसे भी खो दोगी मंगल-बहू।"—उन्होंने समझाया था।

"मैं क्या कर सकती हूँ देवी माँ, कुम्हार का धन तो मिट्टी का होता है। वह काम कौन करेगा? मुझे तो हाथ से ठोंक के तवा और दीया बनाना भी नहीं आता।"

"कुम्हार हो, सृष्टि की चाक कभी नहीं थमी। सबसे बड़ा कुम्हार जो ऊपर बैठा है, तुम्हें बैठने नहीं देगा। बच्चों को पालने के लिए खेतों में काम करो। उसमें हुनर की नहीं परिश्रम की आवश्यकता है।"

"एक तो मैं ठीक से हँसिया-खुरपी चलाना नहीं जानती, दूसरे लोग हँसेंगे।" "हँसने दो, कोई तुम्हें मुफ्त खाने को नहीं देगा। कोई तुम्हारे बच्चे नहीं पाल देगा। रही हँसिया-खुरपी से काम लेने की बात, तो वह तुम जल्दी ही सीख लोगी।"

देवी माँ के सुझाये रास्ते पर चलकर मंगल-बहू ने बच्चों को पालकर कमाऊ बना लिया था। इलाके के लोग एक ही बात कहते, बाबू के चले जाने के बाद अब देवी माँ नहीं रहेंगी। अपने घर-शहर चली जायेंगी। खेत जो उनके हैं सारे या तो बटाई पर लगा देंगी या बेच लेंगी। ऐसे ही समय में मंगल-बहू देवी माँ के पास जाकर खड़ी हो गयी थी।

"आप जब शहर जाने लगें तो मुझे और अनधन को भी ले चलें; हम आपके घर का काम कर देंगे। आपके बिना रहा नहीं जायेगा।" बात समाप्त करते-करते रो पड़ी थी मंगल-बहू।

"अरे पगली, रोती क्यों है, मैं जा कहाँ रही हूँ। बाबू जी ने जो काम छोड़ा है मेरे जिम्मे, वह कौन करेगा? मुझे तो वे यहाँ रखकर परलोक चले गये तुम लोगों के लिए।" सन्तोष की लहर फैल गयी थी गाँव में। इसी मिट्टी का सुख-दुःख माँ का अपना है।

कौआ का काँव-काँव बढ़ गया था। एकाध दूसरी चिड़ियों ने भी चहचहा कर अपनी उपस्थिति जतायी थी।

"भोर समीप है।"—देवी माँ ने आशावान होकर कहा मानो अपने-आप से। "भोर आशा का संचार करता है।" फिर अस्फुट स्वर में बुदबुदायीं—''इस इलाके का बारह मास आठ प्रहर की सम्पूर्ण यात्रा के समान है। अँधेरी काली रात की तरह बाढ़ का समय होता है। लाख यत्न करने पर भी इनसान अपना कुछ-न-कुछ गंवा देता है। सावन-भादो आते-आते अन्न का बहुत अधिक दाना बचता नहीं है, पर और भी तो घरेलू सामान होता है जो बाढ़ में चला जाता है। टाट-बाँस के घर टूट जाते हैं, खूबसूरती और यत्न से गढ़े-मिट्टी के कोठिले ढह जाते हैं। आले-ताखे, घिड़ौचियाँ, बिटियाओं के घरौंदें; कला-संस्कृति का यह जीवन का अविभाज्य अंग-प्रत्येक वर्ष निर्मित होता ही है बाढ़ में विसर्जित होने के लिए। मानो पूरे इलाके की जनता कोसी मैया की पार्थिव पूजा करती हो जिसका ऐसा ही समापन होता है।"

तटबन्ध की ओर से गायों के रम्भाने का स्वर सुनाई देने लगा है। भूसे और पुआल तो पर्याप्त मात्रा में हैं उधर। कुछ लोगों ने पहले से सूखे में अपने सामान रख छोड़े थे। काम चल जायेगा। ऊँचे मचानोंवाले पुआल भी अबकी बह गये। एक और बड़ी नाव होती तो शायद कुछ बच जाता। मन तिक्त हो आया देवी माँ का—"हुँह, अपने लोगों की अपनी चुनी हुई सरकार। अपना नुमाइन्दा, एक नाव तक नहीं, कोई खोज-खबर नहीं। जरूरत क्या है उसकी!

हेलीकॉप्टर से सड़े हुए पाव-रोटी पानी में छपाक् से गिरा देने भर से ही उनके कर्तव्यों की इतिश्री हो जाती है। बाकी का काम अखबारवाले कर देते हैं—काफी राहत-सामग्री बाँटी गयी। सब ठीक है।"

खेतों में निकले अनाज जैसे पॉलिथिन-पैकटों में पॉलिश होकर बड़े शहरों के जनरल स्टोर्स में शोभायमान होते हैं, उसी तरह इस मिट्टी से जनमे-बढ़े-चुने नये नेता राजधानियों की मखमली कुर्सियों पर विराजमान हो जाते हैं। पलटकर देखें क्यों, कींच-कादो लग जाने का भय है।

"माँ ऽ ऽ ऽ ऽ। आवाज दो ऽ ऽ ऽ ऽ।" किनारे से पुकार उठी।

"बउआ ऽ ऽ ऽ। हम ठीक हैं। ऊ ऽ ऽ ऽ।" पलटकर मंगल-बहू ने तसदीक दी।

"आप कहेंगी तो बड़का नाव तुरत विधायक जी दे देंगे।" मंगल-बहू बड़बड़ायी।

"मेरे कहने से वो क्यों देगा, उसे क्या पड़ी है मेरी। उसी के परिवारवाले गाँव में डूबते हैं क्या? अरे मेरे कहने से अपने गाँव का कमाऊ पूत सब तो एक बढ़ी नाव गँठवाता ही नहीं जिसके बीवी-बच्चे डूबते हैं!"—विवश झुँझलाहट भर आयी थी देवी माँ के स्वर में। मंगल-बहू को बेसाख्ता याद आया—देवी माँ अक्सर अपने गाँव के छोटे-स्कूल की मरम्मत के लिए, छोटे मेड़ों को रिंग बाँध रूप देने के लिए, बरसात का ख्याल कर दो-चार और नावें गढ़वा देने के लिए हर वक्त अपने गाँव के लड़कों को कहती रहती हैं। उनका कहना है कि स्वार्थी ही बनो तो ऐसा काम करो जिससे संकट के समय सुभीता हो। यह तो जाना हुआ संकट है। हर पाँच-सात बरस पर विनाशलीला होनी ही है। दूसरे के भरोसे कब तक रहना ठीक है? छोटी-छोटी बातों के लिए सरकार का मुँह कब तक जोहा जाये? पर अब इनकी बात कौन सुनता है? अलबत्ता अपनी बीवी-बच्चों को इन्हीं के भरोसे छोड़कर परदेस कमाने चले जाते हैं। मंगल-बहू ने अपने अनधन को कभी परदेस नहीं भेजा। उन्हें रखने और उबारने वाली धरती और आकाश समान देवी माँ तो यहाँ बसती है, फिर बाहर क्या है? मंगल के जाने के बाद कोई देखने वाला नहीं था। आँगन में मिट्टी का ढेर पड़ा था। बर्तन गढ़ने वाला कोई नहीं था। पड़ोस के गाँव का कुम्हार एक दिन आकर मंगल बहू से निहोरा कर अनधन को माँग कर ले गया।

"बहुरिया, भाई साहब लोग रहे नहीं सो तुम आज्ञा दो तो अनधन को ले जाऊँ। पुरखों का इलम सिखाऊँगा। आगे सारा इलाका इसी को सँभालना है।" कला सिखाने की बात कहकर बैजू पंडित ले गया पहले अनधन को, पीछे चाक उठाकर ले गया, फिर धीरे-धीरे सारी मिट्टियाँ ले गया। मिट्टियों के ढूहे जिस दिन आँगन से चले गये उस दिन मंगल-बहू का कलेजा मानो खाली हो गया, शरीर निष्प्राण-सा रह गया। बिना चाक, बिना मिट्टी क्या कुम्हार पंडित का घर! थोड़े ही दिनों बाद रोता-धोता अनधन लौट आया। "मैं नहीं सीखूँगा बरतन बनाना, देख मेरे लिल्हुए" उसने हाथ के ऊपरी हिस्से को दिखाकर कहा, कैसे मार-मार कर फुला दिये हैं

बैजू पंडित ने।" मंगल-बहू से देखा न गया, उसने खेत का काम सिखाया अनधन को। हल जोतना, फावड़ा भाँजना, खुरपी चलाना। आज तक वही करता है अनधन। हाथ छूटे मुफ्त के नौकर को बैजू पंडित छोड़ना नहीं चाहता था। पीठ पीछे ही आया था–

"बहुरिया, कुम्हार पंडित के बच्चों की तलहथी मिट्टी गूँथते-गूँथते मुलायम रहती है, इलम सिखाने के लिए बच्चे को थोड़ा-ताड़न दे दिया तो भाग आया। अब खेत-मजूरों की तरह तरहत्थी में गट्ठा पड़वायेगी? सारी बिरादरी तुम्हीं पर नहीं मुझ पर भी हँसेगी।" देवी माँ ने आकर उबार लिया था–"बैजू पंडित, मिट्टी-चाक सब ले गये तुम मुफ्त, अब विपत्ति की मारी इस दुखिया के बच्चों को बख्श दो।"

देवी माँ, मैं तो उपकार करना चाहता था। बैजू ने समझाया।

"अभी तक कितनी बार चाक पर काम करने दिया?''

"पहले मिट्टी बनाना तो सीख ले, मिट्टी तैयार करना सबसे बड़ी कला है माँ।"

"ठीक है, वह काम तुम स्वयं करो। इन्हें उस कला को सीखने की अब इच्छा नहीं है।"–बैजू पंडित हाथ मलते चला गया मानो बँधुआ छूट रहा हो। आज अनधन गाय-बैल और दो भैंसों का मालिक है। रात गये तक नाव पर गाँव के लोगों को असबाब और मवेशियों को ढोता रहा। "देवी माँ, लगता है मेरी पीठ अकड़ गयी है। दर्द छाती की ओर बढ़ रहा है। पैर भी सुन्न हो रहे हैं; कहीं मैं गिर न जाऊँ। आपका हाथ कहाँ है, मैं थाम लूँ।" मंगल-बहू ने काँखते हुए कहा। देवी माँ ने टटोलकर उसका हाथ थाम लिया।

"एक ही जगह उकड़ू बैठे-बैठे ऐसा हुआ है, अब तुम्हारी उम्र भी कम नहीं हुई मंगल-बहू। वो तो तुम्हीं हो जो इतना सहन कर लेती हो। बेकार यहाँ बैठी रही। तुम्हें चली जाना चाहिए था।" वे आशंकित थीं।

"देवी माँ, आपको छोड़कर..." ऊँह करके चुप हो रही मंगल-बहू बोल नहीं पा रही थी।

"चुप रहो, और धीरज धरो। देखो सुबह हो रही है। किनारे से कोई नाव खुली है। इधर ही तो आ रही है।" उसे समेटकर देवी माँ ने अपने गिर्द टिका लिया। किनारे से सचमुच नाव आ रही थी। निरभ्र आकाश का अक्स चतुर्दिक जल में पड़ रहा था। देवी माँ के सफेद रेशम से घुँघराले केश हवा में उड़ रहे थे। काँधे पर मंगल-बहू को थामे हुए वो कल्पना के आकाश में चाँद पर बैठी हुई सूत कातती वृद्धा दिख रही थीं। जल में कहीं फुनगी, कहीं ऊँचा मचान, मचान पर आधा डूबा आधा सूखा पुआल का ढेर दिख रहा था। सखीचन पासवान के दालान का धरण सलीब की तरह आड़ा पाकड़ के विशाल पेड़ पर टिका था।

तेज धार के कारण नाव की दिशा बार-बार पलट जाती। टूटे छप्पर पर बैठी अपनी माँ और अनधन की माँ को लेने बाबू आ रहे थे। पन्द्रह मिनट के रास्ते को पार करने में

दुगुना समय लगा। नाव घर की दिवार से टिकाकर लगा दिया गया।

"पहले इसे सँभाल अनधन", देवी माँ ने मंगल-बहू की ओर संकेत किया। उसे सँभालकर उतारा गया। नाव में बिछे पुआल पर लिटा दिया गया। अकड़े हुए पैरों से देवी माँ भी उतरीं। हलचल से आतंकित होकर छप्पर पर आश्रय लेकर बैठे मेढक, चूहे और छुछुन्दर छपाक्-छपाक् जल में कूदकर इधर-उधर भागने लगे। नाव बहाव की ओर थी। तुरन्त किनारे पहुँच गयी। अनधन ने माँ को गोद में उठा लिया। उसके हाथों में देवी माँ का पल्लू था। मंगल-बहू ने एक बार चारों ओर देखा, फिर देवी माँ को देखा। सूर्य की किरणों ने उनके श्वेत रेशमी केशों को सुनहरे रंग में रँग दिया। वत्सल माँ का मुखमंडल सन्तुष्ट था। चारों ओर से औरतों-बच्चों ने उन्हें घेर लिया। एक व्यक्ति ने खाट बिछा दी। दूसरे ने चादर और तकिया रख दिया।

"ऐ क्या है खिसको–देवी माँ आराम करेंगी।" अपनी माँ को पुआल पर बिछी चटाई पर लिटाते हुए अनधन ने डाँटकर भगाना चाहा।

"हाँ, मैं बेहद थक गयी हूँ, आराम करूँगी। तुम लोग जाओ, बच्चों को कुछ पकाकर खिलाओ। लकड़ियाँ हैं?", देवी माँ ने खाट पर लेटते हुए प्रश्न किया।

"उपले हैं।"–किसी ने उत्तर दिया।

नीचे बिछे पुआल पर चटाई थी। उसी पर बाबू और बहुरिया बैठे हौले-हौले देवी माँ का सिर और पैर सहलाने लगे। अनधन की बहू अपनी सास को सँभाल रही थी।

अपने स्नेह के आँचल तले जन समूह को सुकून देने वाली माँ की खाट में आतप रोकने को मसहरी लगाने लगा एक बच्चा।

"अम्मा, जरा ठहर कर सोयें। चाय बनाती हूँ।"–खर-पत्ते जलाती केतली चढ़ाती बहू ने आवाज दिया।

"बनाओ, पीकर ही सोऊँगी। अब तुम सब जगे रहो; मेरे आराम का समय है", उनींदी आँखों से कहा देवी माँ ने। उत्सव का वातावरण हो मानो। तटबन्ध पर ठिठका खड़ा सूरज भरपूर आँखों से देख रहा था कभी निर्मम प्रकृति के बीच अखंड जलधार को और अपराजित मानव समूह के बीच खड़ी कौस्तुम स्तम्भ दीपित देवी माँ को।

हरहराता हुआ हेलीकॉप्टर गुजरा नीचे की ओर झुकता हुआ, कुछ गिराता हुआ यहाँ-वहाँ। कल के अखबारों में खबर बनेगी यह हवाई कलाबाजी, खबर नहीं बनेगी तो इनका अंग बनी देवी माँ और साथिन मंगल-बहू। सूरज इन्हें उर्जा देता बड़ी तेजी से आकाश के बीचोबीच अग्रसर हो उठा।

1- आदर्श कॉलोनी
श्रीकृष्णनगर पटना-800001

सिल

–**दिनेश अत्रि**

उस सुबह शर्मा जी का जागना कुछ अलग ही तरह का जागना था। सामान्यतः उन्हें उठने में दो बार चाय गर्म करने का समय लगता। इतवार को तो वे और भी देर से उठने के आदी थे। सुबह जब उन्हें जबरदस्ती झिंझोड़कर उठा दिया गया तो वे हड़बड़ाकर उठे। पत्नी के हाथ में चाय की प्याली की जगह चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थीं। वे बोले, 'क्यों क्या हुआ. .. रात सोते तक तो सब ठीक ठाक था?'

'उठिए, बाहर आँगन में आइए, देखिए क्या हुआ?'

शर्माइन उन्हें लगभग खींचते हुए आँगन में ले जाकर उँगली दिखाने लगीं। वे समझे बिजली नहीं होगी तो आँगन में उँगली दिखा रही हैं। उठाते धरते कुछ चोट वोट लग गई होगी। बहुत सुबह के धुँधलके में उन्होंने उँगली देखी, बोले, 'क्या हुआ उँगली को, उँगली तो ठीक है।'

'अरे उँगली नहीं उस तरफ देखिए।' शर्माइन ने उँगली से इशारा किया। वे उस तरफ देखने लगे।

'क्या कुछ देखते हैं?'

'नहीं, वहाँ तो कुछ भी नहीं।' शर्मा जी को कुछ दिखाई नहीं दिया।

शर्माइन जिस ओर इशारा कर रही थीं अपने पति को उधर ही ले गयीं, 'अब देखिए।'

'सिल है।' उबासी लेते बड़े अनमने भाव से शर्मा जी बोले, 'हैरान मत करो, सोने दो, दिखता नहीं कितना अँधेरा है? जो कुछ दिखाना हो फिर दिखा देना। पूरा दिन पड़ा है।'

'ग़ौर से देखिए' शर्माइन ने ज़ोर देकर कहा, 'आज जल्दी उठ गए तो पहाड़ नहीं गिर पड़ेगा, रोज़ तो देर से उठते हैं।'

शर्मा जी ने आँखें मलीं, ग़ौर से देखा और बिगड़ कर बोले, 'पत्थर की सिल है और क्या? रात की चटनी लगी रह गई है। बरौनी धो देगी।'

शर्मा जी की अन्यमनस्कता देखकर शर्माइन थोड़ा झल्ला उठीं। वैसे यह कोई नई बात न थी। वे शर्मा जी के स्वभाव से भलीभाँति परिचित थीं। पर वे यह सोचकर हैरान रहतीं कि

जो शख्स बारीक से बारीक चीज को भी आसानी से पकड़ लेता है, उसे इतनी वाजेह चीजें क्योंकर दिखाई नहीं देतीं। झक मारकर उन्होंने अरगनी की तरफ इशारा किया।

'अरे बाबा अरगनी है और क्या, और उस पर पीला कपड़ा लटका है।' शर्मा जी बोले।

'और कुछ?'

'और... और कुछ क्या?'

अनगनी पर नन्हीं बूँदों की झालर थी। शर्मा जी बोले, 'कितनी सुंदर है यह मोतियों की लड़ी! अरगनी पर गीले कपड़े लटका दो तो धूप उन्हें सुखा देती है। पर यदि गीली पानी की बूँदें लटकी हों तो धूप उन्हें गायब कर देती है, सूरज उन्हें चुरा लेता है। इस बार शादी की सालगिरह पर तुम्हें मोतियों का हार उपहार में दूँगा। सूरज उसे नहीं चुरा पाएगा।'

'यही सुनती आ रही हूँ जब से ब्याहकर आई हूँ। गिलट का एक गहना तक तो देते बना नहीं। बात करते हैं मोतियों के हार की... पिछले दस सालों में ले दे के कुल तीन साड़ियाँ दिलाई हैं। मैके से न मिलें तो...' शर्माइन ने माथा पकड़ लिया, 'तुम्हें तो चुहल सूझ रही है। देखते नहीं यहाँ दो शर्ट पीस टँगे थे। कल शाम बाज़ार से लाये थे। तुम्हीं ने धोकर लटकाए थे कि नहीं। पीला लटका है, नीला कहाँ है?'

शर्मा जी जैसे तंद्रा से जगे। उन्हें याद आया, कल शाम बाज़ार से दो शर्ट पीस खरीदे थे। उन्होंने ही भिगोकर अरगनी पर डाल दिये थे। अरगनी पर सिर्फ पीला टँगा था। पूरी तरह सूखा नहीं था।... 'उस पर इस्तरी के बाद जब बेलबूटे कढ़ेंगे तो मेज़पोश एकदम खिल उठेगा। लिखने में कितना मज़ा आएगा... पर नीला पीस?... हाँ था तो, लटकाया तो यहीं था पीले के बगल में, गया कहाँ? शायद हवा में कहीं उड़ गया हो। आँगन छोटा है। मुंडेर भी नीची है। शर्मा जी मुंडेर से बाहर झाँकने लगे। कपड़ा नजर नहीं आया। आँगन में इधर उधर देखा। छत पर देखा। छत से लगे इमली के पेड़ पर देखा। पेड़ पर उलझी नीली पतंग थी। जीना उतर आँगन में एक बार फिर देखा। हौदी में झाँका। उसमें उन्हें चाँद का अक्स अपने धुँधले चेहरे के साथ नजर आया। उन्होंने चेहरे पर पानी की छपकी मारकर देखा। दर्पण कुछ साफ हुआ। सुबह हो रही थी। पड़ौस में गाय रँभाई। पड़ौस में सुबह हुई। इमली का पेड़ चहचहाया। पेड़ पर सुबह हुई। चिड़ियों का कलरव आकाश में उड़ा। आकाश में सुबह हुई। दो स्त्रियाँ मंदिर जाते दिखीं।

'देखो यहाँ से दिखता है। मैं भी बाहर से दिखती होऊँगी।' शर्माइन शिकायत के लहज़े में बोलीं।

'तुम पूरी नहीं दिखतीं। बाहर से तुम्हारी आँखे, भवें और माथा भर दिखता है। सेंडिल पहनकर देखो तो पूरा चेहरा दिखेगा। शाम को जब लौटा करूँ तो तुम सेंडिल पहनकर आँगन से मुझे देखा करो। मैं तुम्हें देख लिया करूँगा। फिर तुम दरवाज़ा खोलना।'

'मसखरी सूझ रही है। कब से कह रही हूँ मुंडेर उठवा दो, ऐसे अच्छा नहीं लगता।. .. और बात को क्यों घुमाते हो, मैं कह रही थी वह नीला कपड़ा...'

शर्मा जी ने दो टूक जवाब दिया, 'नीला कपड़ा शायद न लटकाया हो, उसमें टेरीन मिक्स थी। देख़ो कहीं तुम्हारे बैग में न हो।'

शर्माइन शर्मा जी की लापरवाही से आजिज आ गईं, 'अरे कल रात तुमने दोनों पीस नहीं लटकाए थे मेरे सामने, इतनी जल्दी भूल गए? तुम्हें तो कुछ होश ही नहीं रहता। जब देखो तब मरी उन किताबों में दीदा लगाए रहते हो। इधर उधर का कुछ सूझता ही नहीं। कविता-कहानी, दोस्तों के साथ गप्पों में वक्त बरबाद करते हो। होशियार बनते हो तो कोर्स की कोई किताब लिखते। लड़कों के काम आती। नाम होता, कुछ कमाई होती। लड़कों को पढ़ाते हो तो मुफ्त। एक वह सक्सेना है। कितने ठाठ से रहता है। तुम्हारे साथ का ही तो है। मनोहर कॉलोनी में मकान बनवा रहा है। पर तुम्हें इससे क्या... देखते नहीं अपनी सिल कितनी बड़ी थी?'

शर्मा जी के होश ठिकाने आ गए। इसके अलावा अब कोई चारा नहीं था कि वे सिल पर ध्यान देते। उन्होंने सिल ध्यान से देखी। सिल पहले से छोटी थी। इसका मतलब यह कि कड़ाके की ठंड पड़ रही है इन दिनों। ठंड में चीज़ों के सिकुड़ने का भान था उन्हें। लकड़ी यहाँ तक कि लोहा भी सिकुड़ जाता है। लेकिन ठंड में पत्थर भी सिकुड़ सकता है, यह नया अनुभव था। बहुत ज्यादा ठंड पड़ने पर शायद वह भी सिकुड़ जाता हो। सिकुड़ने पर लोहे लकड़ी की आवाज बदल जाती है। सिल की भी बदली हो। अब जब शर्माइन सिल पर मसाला पीसेंगी तो एक नई ध्वनि सुनने को मिलेगी। कैसी होगी यह ध्वनि? और उस पर शर्माइन का गुनगुनाना? शर्माजी हैरत और जिज्ञासा से टुकुर-टुकुर सिल देख रहे थे, जैसे कि पहली बार।

शर्माइन से अब नहीं रहा गया। हद हो गई। आखिर, कह ही दिया 'चोरी हुई है हमारे यहाँ। कोई रात में आया। नीला शर्ट पीस और बड़ी सिल ले गया। छोटी सिल रख गया। पिछले एक माह में एक चमचा, एक करछुल, तीन चम्मचें, दो कटोरियाँ, एक ब्लाउज चोरी चले गए. .. और तुम्हारा पेन भी गुमा नहीं, वह भी चोरी हुआ है। मैं कब से कहती रही पर तुम्हें इससे क्या? सोच रहे होंगे कि चोर जिस तरह बड़ी सिल की जगह छोटी सिल रख गया, शर्ट पीस की जगह रूमाल रख जाता। दो रूमाल हो जाते।'

शर्मा जी खिसियानी हँसी हँसकर रह गए। शर्मा जी को सचमुच इन बातों से कोई फर्क नहीं पड़ता था। वे अब भी उसी तरह लिखते पढ़ते-पढ़ाते थे। वैसे ही दोस्तों के साथ मजमा जमता। चटनी के साथ मसालेदार खाना खाते, कटोरी में खीर। शर्ट पीस बिट्टू की ड्रेस के लिए और ले आयेंगे। चटनी मसाले के लिए छोटी सिल ही काफी है। कुल जमा तीन प्राणी ही तो हैं घर में। शर्माइन जब सिल खरीद कर लायीं थीं तभी उन्होंने टोका था, 'इतनी बड़ी सिल की जरूरत नहीं। उठाने धरने में दिक्कत होगी।' तिस पर शर्माइन तमक कर बोली थीं, 'हर रोज़ ढेर सारी चटनी चाहिए, चटपटा मसालेदार खाना चाहिए। सादा सब्जी हलक से उतरती नहीं।'

शर्मा जी क्या बोलते, चुप रह गए।

शर्मा जी को भरोसा ही नहीं हो रहा था कि चोरी हुई है। पिछले तीन साल से इस मुहल्ले में रह रहे थे। कभी किसी के यहाँ चोरी नहीं सुनी। आँगन की मुंडेर ऊँची करवाने श्रीमती जी ने कई बार टोका था, पर मुंडेर ऊँची हो जाने से रोशनी कम आती। घर बंद सा रहता। और फिर जिनकी दीवारें ऊँची हों, उनके घर चोरी नहीं होती क्या? उन्हें नीची मुंडेर के छोटे आँगन पर नाज़ था। सभी कुछ था वहाँ जो एक मुकम्मिल आँगन में होना चाहिए। पानी के लिए हौदी थी। तुलसी का बिरवा, सिल, अरगनी, चूल्हा, सिगड़ी, कोयला, घासलेट की कुप्पी...आकाश दिखता था। चाँद सूरज दिखते थे। तारे टिमटिमाते थे। बादलों में बिजली की कौंध थी। इन्द्रधनुष खिलता था। पतंगे उड़ती थीं। कभी-कभी हवाई जहाज भी उड़ता। मुंडेर पर कौवा बैठता। आते जाते लोग दिख जाते। सिर पर जवारे उठाये गीत गाती स्त्रियों का झुण्ड दिख जाता। मंदिर के पुजारी दिख जाते। मुंडेर पर से बातें हो जातीं। नीची मुंडेर के नन्हें आँगन से गोया घर जहान से जुड़ा रहता। नीची मुंडेर इस बात की भी ख़बर थी कि शरीफों का मुहल्ला है। मुंडेर उठवाने का मायने पड़ौसियों मुहल्ले वालों पर शक करना होता। लिहाजा मुंडेर उठवाने की माँग पर उन्होंने कभी ध्यान नहीं दिया।

'मुझे बरौनी पर शक है।' शर्मा जी को भटकते देख शर्माइन ने एक बार फिर उन्हें मूल विषय पर लाने की चेष्टा की।

शर्मा जी बोले 'राम राम, तुम उस पर शक करती हो। गरीब है इसलिए?'

गरीब है इसलिए नहीं, चोरी की है इसलिए। काजल बिंदा लगा कैसा टिमक कर आती है छिनाल। दीदे फाड़ फाड़कर देखती है। इससे अच्छी तो वही बुढ़िया थी।'

'अरे तुम्हारी ही तो शिकायत रहती थी। चाहे जब नागा करती है। टाइम बेटाइम आती है, दूर से आती है। बरतन ठीक से नहीं माँजती, जूठन रह जाती है। जब तब कप प्लेट तोड़ देती है।'

'अरे नागा ही तो करती थी, चोरी तो नहीं। पर तुम्हें तो चाहिए थी छम्मक छल्लो। सो रख ली। करवाली न चोरी... मेरे सामने तो आए कलमुँही।'

'क्यों ताने मारती हो भागवान। तुमने नहीं कहा था कि सामने आयी है नयी नयी, काम ढूँढ रही है। गरीबन है बेचारी। मदद हो जाएगी। वक्त जरूरत बुला भी लेंगे। बुढ़िया की जगह उसे लगा लेते हैं। फिर मुझे क्यों दोष देती हो?'

'मुझे क्या पता था नासपीटी ऐसी निकलेगी, दुखियारी जान लगा ली थी।' शर्माइन की चिंता, ईर्ष्या, नफरत और क्रोध में फूट रही थी। उसे शांत करने शर्मा जी ने कहा, 'ठीक है, सुबह-सुबह मूड खराब मत करो। पूरा दिन पड़ा है बातें करने को। अब गर्मागरम एक-एक कप चाय हो जाए। एक नींद ले लें। तुम भी कुछ देर सो रहो।'

चाय पीकर शर्मा जी लम्बलेट हो गए। शर्माइन घर-गिरस्ती में जुट गयीं। शर्माइन का गुस्सा कुछ ठंडा जरूर पड़ा पर शर्मा जी को इत्मीनान से खर्राटे भरते देख फिर भड़क उठा। उसका केन्द्र बरौनी से हटकर शर्मा जी पर आ गया था। वे और भी व्यग्र और व्यथित हो उठीं। उन्हें मालूम था शर्मा जी कुछ करेंगे धरेंगे नहीं, सभी कुछ उन्हें ही करना होगा।

उस दिन बरौनी नहीं आई। बरौनी को बुखार था। दस्त लग गए थे। अगले दिन भी खबर भिजवा दी। शर्माइन का शक यकीन में बदल गया। चौथे दिन जब वह आई तो शर्माइन ने आड़े हाथों लिया। भरी बैठी थीं। सामान्य पूछताछ से काम बनते नहीं दिखा तो धमकी दे डाली, 'फारेस्ट ऑफीसर इनके दोस्त हैं। तेरे आदमी की नौकरी अभी कच्ची है। उसे काम से निकलवा देंगे। सज़ा मिलेगी सो अलग... फिर तुझे काम पर कौन रखेगा? अकल ठिकाने लग जाएगी। दाने दाने को तरसेगी। तेरे आने से पहले कभी चोरी नहीं हुई इस मुहल्ले में। अभी कुछ नहीं बिगड़ा है। तेरी भलाई इसी में है, सच सच बता दे सबकुछ। अभी इनसे भी नहीं कहा है।'

बरौनी ने कुछ नहीं उगला। बस भयभीत काँपने रोने लगी।

रात को शर्माइन ने शर्माजी को सब कुछ विस्तार से बताया कि किस कुशलता से उन्होंने बरौनी को टेकल किया, 'बरौनी ने चोरी कबूल नहीं की मगर वह डर के मारे रोने लगी थी। देखना एक दो दिन में सारा सामान वापिस मिल जाएगा।'

अपनी बात खत्म कर विजयी मुद्रा में शर्माइन ने शर्मा जी की आँखों में देखा।

शर्मा जी बोले, 'चलो अच्छा है मिल जाए सामान। पर तुम्हें इस तरह पेश नहीं आना चाहिए था। मान लो सचमुच उसने चोरी नहीं की हो तो? वैसे मुझे नहीं लगता कि उसने चोरी की होगी। ऐसी दिखती तो नहीं। अपनी हारी बीमारी और तुम्हारे शक के कारण वह तुम्हें सहमी डरी दिखी, और पति और अपने को काम से निकाल दिये जाने की धमकी के दुष्परिणाम और अपयश की आशंका से रोने लगी। खैर...यह चोरी भी कोई चोरी है। दो चार बरतन उठा

लिए। छोटी सिल बड़ी सिल से बदल ली...सिल हमारे लिए जहाँ स्वाद का नाम है, गरीब के लिए तो उसके पूरे परिवार के जीवन मरण का सिला है। गरीब पर शक करना आसान होता है। उसकी जरूरतें सीमित आमदनी में अँटती नहीं। माँगने में संकोच होता है। फिर जैसे तैसे खिदमत खुशामद माँग भी लो तो लौटाना तो पड़ता ही है। न लौटा पाने की दशा में खरी खोटी सुनो। गरीब नजरें नहीं उठा पाता। उसकी आत्मा सदा झुकी रहती है। समर्थ गरीब से किसी न किसी तरह वसूल ही लेता है। माँगे बिना नजरें बचाकर बरौनी ने यदि दो चार छोटी मोटी चीजें उठा भी लीं तो इसमें ऐसा क्या अपराध हो गया? हम भी तो इतने उदार नहीं कि उन्हें माँगने का साहस हो... फिर चलो चोरी कर भी ली तो ऐसा कुछ तो नहीं हुआ कि हमारे पास इतनी कमी हो गई हो कि हमारा काम ही न चले। इसे चोरी कहना कहाँ तक वाजिब है?'

शर्माइन शान्त बनी रही। उन्होंने शर्मा जी की किसी बात का प्रतिवाद नहीं किया। उन्हें लगा वे उनकी प्रकृति से पूर्ण परिचित नहीं। आज उनके एक और ही रूप की झलक उन्हें मिली। जिस गहराई तक उतरने में मनुष्य कतराता है जैसे उसकी थाह की एक झलक उन्होंने पा ली। जैसे मनुष्यत्व की कुंजी उन्हें मिल गई। सारा कलुष आँसुओं की अविरल धार बह चला। शर्माइन के लिए ये आत्मसाक्षात्कार के गौरवपूर्ण पल थे... शर्मा जी की पलकें मुँदने लगी थीं। शर्माइन ने उनके सिरहाने एक तकिया और लगा दिया। शर्मा जी सदा सिर ऊँचा किए रहते, सोते में भी। शर्माइन कुछ देर अपने पति को अपलक निहारती रहीं... वे उस रूप की पावनता को अपने अंतस्थल में छिपा लेना चाहती थीं।

बत्ती बुझा शर्माइन अपने पति के पार्श्व में लेट गईं। उनकी अनासक्त स्निग्धता की भरक में न जाने कब उनकी आँख लग गई।

हरिरम्मा
मीनाक्षी पुरम्, पथरिया जाट,
सागर (म.प्र.)
मो. नं. 9425171769

तीन कविताएँ

—**पंकज चतुर्वेदी**

बच्चे अपने

बच्चे अपने
खिलौने का भी
ख़याल रखते हैं

उसने खाना खाया
या नहीं
पानी पिया या नहीं
वह सो पाया
या नहीं

बच्चे अपने
खिलौने का भी
ख़याल रखते हैं

हम बच्चों का
ख़याल नहीं रख सके

कमीज़ ख़रीदने गया था

कमीज़ ख़रीदने गया था
बाज़ार में
दुकान भव्य थी

वहाँ काम कर रहे
नवयुवक से पूछा :
'अगली बार मिलेंगे
आपका ट्रांसफ़र
तो नहीं होगा?'

उसने हिम्मत से
हँसकर जवाब दिया :
'नौकरी का ही
ठिकाना नहीं है'

जिसे हम
उदारीकरण कहते हैं
अनुदारता है

निजीकरण हिंसा है
रईसों की
हर एक व्यक्ति के विरुद्ध

हम सहारा नहीं दे सके
नौजवानों को
उन्हें उत्पीड़न के सम्मुख
लगातार
निष्कवच ही बनाया है

कमीज़ अच्छी मिल गयी
मगर गुनहगार की तरह लौटा

आगे कुछ कह नहीं सका

डॉक्टर ने स्टेथेस्कोप से
माँ की जाँच की
चिंतित होकर कहा :
'फेफड़े बहुत
कमज़ोर हो गये हैं'

मैंने अकेले में
हिम्मत करके पूछा :
'सर, कितना जीवन
बचा है?'

'जितना आप ख़याल
रख सकें!'
ऐसा जवाब था
जो विज्ञान को रहस्य
और प्यार को
उम्मीद की तरह
देखता था

कई वर्ष साथ रही माँ
आपत्ति-विपत्ति में
न कभी कोई शिकायत की
न माँग

एक ऐसा मौन
जिसके सामने
मेरी भाषा
लज्जित ही
हो सकती है

माँ अब गाँव में हैं
उनका जीवन रोज़ाना
दवा पर निर्भर है
जिसका उन्हें
संकोच रहता है

फ़ोन पर बात हुई
मैंने कहा :
'माँ, दवा में
नागा मत करना
तुम यहाँ भी थीं तो...'

आगे कुछ कह नहीं सका
आँख में आँसू भर आये
आवाज़ काँप गयी

दूर से भेजा गया सँदेसा
आँसुओं में नम होता है

203, उत्सव अपार्टमेंट
379, लखनपुर
कानपुर (उ.प्र.)–208024
मोबाइल : 9354656050; 9425614005

गज़ल

—नवीन कानगो

कोई घर, आशियाँ, ठिकाना बना लो अपना
ज़िन्दगी हर गाम दुराहे पे खड़ी होती है

आदमी करता है तामीर तो सदियों के महल
पल की शमशीर मगर गर्दन पे अड़ी होती है

आपकी बातों में लफ़्ज़ क्या और मानी क्या
आपकी बात तो फूलों की झड़ी होती है

हमें हर सिम्त लब-ओ-आरिज़ और आपकी ज़ुल्फ़
आपको जाने क्यों दुनिया की पड़ी होती है

* * *

जिसने लूटा है चमन को बारहा यारों
वही निभाएगा किरदार-ए-निगहबाँ यारों?

कोई तो बात मजलूमों की करेगा यहाँ
कोई तो होगा उनका पासबाँ यारों

गले लगाते हो उसे जो बहुत अकड़ता है
तुम उसको भूल गए जो है मेहरबाँ यारों
पास आओ, यहाँ बैठो, मेरी बात सुनो
बहुत सुना है, मगर मुझको कहाँ सुना यारों

* * *

चाँद के दीदार में दूरियाँ ही बेहतर हैं
वो चमकती चीज़ भी धूल, मिट्टी, पत्थर है

गोया कि उसको देखकर एहसास तक होता नहीं
लफ्ज़ों की चाशनी में ख़्वाहिशों का खंजर है

उसने बनाया है इंसान को कमज़र्फ़ मगर
अब नज़र आता है जो वो तो सबसे कमतर है

क्या कहूँ मैं इन आराइशों को देखकर
जश्न-ए-आज़ादी उन्हें अस्ल आज़ादी से बढ़कर है

* * *

वो दोस्तों की बहुत देख-भाल करते हैं
बड़े सलीके से फिर इस्तेमाल करते हैं

खिला-पिला कर बड़ा करते हैं वो रिश्तों को
मुफ़ीद मौकों पर उनको हलाल करते हैं

बहुत तसल्ली है उनको मेरी तबाही की
मेरे मुँह पर मगर कितना मलाल करते हैं

दोस्तों से सीख लीजिये दुश्मनी के गुर
फिर देखिए आप क्या क्या कमाल करते हैं

* * *

कहकशाँ हूँ मैं, सारे सितारे मुझमें
बहता दरिया हूँ, सारे किनारे मुझमें

ये मेरा दिल है कि आईनाख़ाना
मैं सभी में नज़र आता हूँ, सारे मुझमें
अजीब तजरबा हुआ है कल रात मुझे
मैं नज़ारा था और सारे नज़ारे मुझमें

अपने गिरने के ज़िक्र से मुझे गुरेज़ नहीं
ढूँढ़ता हो न कहीं कोई सहारे मुझमें

आना-जाना

रेल का डिब्बा-
ख़ाली हुआ, फिर भरा

उसके उतरने पर कुछ ख़ाली हुआ
मगर कुछ ही देर के लिये
फिर कोई साँस हाँफ़ती हुई
दाखिल होती है डब्बे में

जैसे नदी से पानी निकालने पर
नहीं बनता है कोई गड्ढा
आपके उतरने पर
फ़िर अवस्थित हो जायेगा डिब्बा
जैसा था आपके पहले

डिब्बा ख़ाली जगह भर है
डिब्बा शाश्वत है

नदी के सारे मोड़ तो ज़मीन के थे
पानी को किसी से कोई गुरेज़ न था

बहुत तलाश कि कोई रंग दे मुझको
मगर ज़माने में तुझसा कोई रंगरेज़ न था

प्रोफेसर
सूक्ष्मजीव विज्ञान विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)

गुरु

–प्रकाश जैन

(1)

अबोध बच्चे को,
ज्ञान का 'बोध',
कराता है–
एक गुरु
माँ की गोद,
परिवार की छाया से दूर,
जब वह अबोध बच्चा,
प्रथम बार घर से निकलता है।
तो,
उसे मिलती है,
माँ जैसी–गुरु माँ,
वह हाथ पकड़कर लिखना,
और
उंगली दिखाकर, खेल – खेलना सिखाती है।
इस प्रकार,
साल – दर – साल,
गुरुओं से ज्ञान पाकर,
वह अबोध बच्चा,
परिपक्व युवा बनता है।

(2)

हमारे बीच में रहकर भी,
सदा चलायमान रहते हैं जो,
ऐसे,
हमारे धर्म–गुरु,
अपनी त्याग–तपस्या एवं ध्यान से,
हमें धर्म का पाठ पढ़ाकर,
जीना सिखाते हैं,
पापों से बचाते हैं।
ऐसे संत – ऐसे गुरुओं से ज्ञान पाकर,
हजारों शिष्य उनके चरणों में,
अपना जीवन समर्पित कर,
उसी राह पर चलते हैं।
और
लाखों भक्त अपना जीवन
सफल बनाते हैं।

(3)

'गुरु' शब्द की महिमा को,
खंडित किया है
'अफज़ल गुरु' जैसे लोगों ने।
वह मासूमों के हाथ की,
कलम छीनकर,
बंदूक थमाते हैं।
और
उनकी जान की कीमत पर,
दहशत फैलाते हैं।
काश!
उनके दिमाग का फितूर निकल पाता,
और
देश में अमन शांति का परचम लहरा पाता।

असिस्टेण्ट
वित्त एवं लेखा
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)

कब तक जलेंगी बेटियाँ

–उषा राणा

जिनके आगमन पे, मुस्कुराती वसुंधरा,
जन-जन में पूजनीय, सदियाँ रही परंपरा,
कोख कालिख देखकर, पूछती है बेटियाँ
अंधी हवस की आँच में, कब तक जलेंगी बेटियाँ,

कंजको के रूप में, जब पूजते हैं बेटियाँ,
दुर्गा है चंडिका है, देवी हैं ये बेटियाँ,
असुरक्षित कोख में, दम तोड़ती है बेटियाँ,
अंधी हवस की आँच में, कब तक जलेंगी बेटियाँ,

घनघोर काली रात में, उजला दिया हैं बेटियाँ,
घर के आँगन में जो, बिखरे रंग हैं वो बेटियाँ,
जिससे मन बहले वो, कोई खेल ना हैं बेटियाँ,
अंधी हवस की आँच में, कब तक जलेंगी बेटियाँ,

आबरू का मोल जब, वहशी दरिंदो के हाथ में,
नपुंसक न्याय व्यवस्था, कानून भी ना साथ में,
उठती है जब हर नज़र, क्यूँ डरती हैं ये बेटियाँ
अंधी हवस की आँच में, कब तक जलेंगी बेटियाँ,

क्या मेरी इच्छा नहीं, मैं भी उडूं बेफ़िक्रियाँ,
जी लूँ अपनी ज़िन्दगी, सब तोड़कर के बेड़ियाँ,
कब तलक दहेज़ के, बदले बिकेंगी बेटियाँ,
अंधी हवस की आँच में, कब तक जलेंगी बेटियाँ,

असिस्टेण्ट प्रोफेसर
समाजशास्त्र एवं समाज कार्य विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)

परिशिष्ट : हिन्दी वर्तनी सम्बन्धी कुछ नियम

(हैदराबाद से प्रकाशित साहित्यिक पत्रिका 'कल्पना' ने अपने कुछ आरम्भिक अंकों में हिन्दी शब्दों की वर्तनी के सम्बन्ध में कुछ नियम निर्धारित किए थे। 'कल्पना' में तो उन नियमों का पालन होता ही था, अन्यत्र भी कुछ लेखक आदि उनका पालन करने लगे थे। उन नियमों को हम यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं, ताकि नए लेखकों को तथा हिन्दी प्रयोक्ताओं को उनकी जानकारी हो और वे उनका पालन कर सकें। –सम्पादक)

1. (क) विभक्तियों को शब्दों से अलग लिखा जाए–जैसे 'राम ने', 'मेज पर', 'लड़कों को'।
   (ख) सर्वनामों में सभी विभक्तियों को मिलाकर लिखा जाए–जैसे 'उसने', 'उनका', 'हमसे'
   (ग) जिन सर्वनामों के अन्त में 'ही' अथवा 'ई' लगा हो, उनकी विभक्तियों को अलग लिखा जाए– जैसे 'इसी से', 'तुम्हीं को'।
2. पूर्वकालिक क्रियाओं के 'कर' को अलग लिखा जाए–जैसे 'जा कर', 'आ कर'।
3. संयुक्त क्रियाओं में दोनों अंशों को अलग-अलग लिखा जाए–जैसे 'आ गया', 'चल पड़ा', 'हो सका'।
4. जिन भूतकालिक कृदन्त क्रियाओं अथवा विशेषणों का अन्त 'या' से होता है, उनके स्त्रीलिंग और बहुवचन रूप में भी 'य' का ही प्रयोग किया जाए– जैसे 'गया, गयी, गये' 'नया, नयी, नये'।
5. बहुवचन का 'ए' और स्त्रीलिंग का 'ई' वहीं ठीक है, जहाँ पुलिंग एकवचन में 'आ' हो–जैसे 'हुआ, हुई, हुए।'
6. 'लिये : लिए'–'लिये' को 'लिया' का बहुवचन रूप मानें और 'लिए' को विभक्ति-चिह्न।
7. 'दिखाई : दिखायी'–'दिखाई' संज्ञा-रूप मानें और 'दिखायी' भूतकालिक क्रिया (स्त्रीलिंग)–जैसे साँप 'दिखाई' पड़ा, मैंने उसे अपनी पुस्तक 'दिखायी'।

8. (क) आज्ञार्थक तथा सम्भावनार्थक क्रियाओं में केवल 'ए' लिखा जाए—जैसे, 'आए', 'पिए', 'कराए'।

(ख) आदरणीय आज्ञा के रूप में 'ए' ही लिखा जाए—जैसे 'आइए', 'खाइए', 'जाइए'।

(ग) भविष्यत् रूपो में भी 'ए' ही लिखा जाए—जैसे 'आएगा', 'जाएगी', 'आएँगे'।

9. सम्भावना अथवा आज्ञा के उत्तम पुरुष एकवचन का चिह्न 'ऊँ' और मध्यम पुरुष बहुवचन का 'ओ' है। इसलिए उनकी ईकारान्त धातुओं में भी 'ऊँ' अथवा 'आ' का प्रयोग किया जाए—जैसे 'पिएँ', 'जिऊँ', 'पिओ'।

10. 'चाहिए : चाहिये'—'चाहिए' लिखा जाए।

11. अनुस्वार और अनुनासिक (चन्द्र-बिन्दु) दो सर्वथा भिन्न ध्वनियाँ हैं—जैसे, 'हंस', 'हँसना, '